Library
Date of Receipt

शकुंतला नाटक

राजा लक्ष्मणसिंह-अनुवादित

शकुंतला नाटक

[सचित्र]

संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०,

सभापति, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

सन् १९२८ ई०

अष्टम संस्करण] [मूल्य १)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

संपादक का निवेदन

राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला नाटक पहले पहल सन् १८६३ ई० में प्रकाशित हुआ था। उस संस्करण में केवल एक दो स्थानों को छोड़कर और सारा अनुवाद गद्य में था। पीछे से राजा साहब ने मूल ग्रंथ में जहाँ गद्य था वहाँ गद्य और जहाँ पद्य था वहाँ पद्य में इसका अनुवाद ठीक करके छपवाया। यह संशोधित संस्करण अब तक प्राप्त है परंतु पहले संस्करण की प्रतियों का मिलना कठिन हो गया है। मिस्टर फ्रेडरिक पिनकाट ने पहला संस्करण कई वर्ष हुए इँग-लैंड में अपनी टिप्पणी सहित छपवाया था। यह अब तक प्राप्य है पर इसका मूल्य इतना अधिक है कि उसका ख़रीदना साधारण लोगों की सामर्थ्य के बाहर है। यह देखकर कि अब तक लोगों में पहले संस्करण के पढ़ने की इच्छा बनी हुई है और उसके प्राप्त न होने से उन्हें दुःख होता है, मैंने उसके पुनः प्रकाशित कराने का साहस किया। इसके संपादन-कार्य में मैंने अपनी तरफ़ से कुछ जोड़ तोड़ नहीं किया है। जैसा राजा साहब ने इसे छपवाया था यह ठीक वैसा ही है, केवल शब्दों के रूपों को मैंने समस्त ग्रंथ में

एकसा कर दिया है। इस ग्रंथ के जितने संस्करण मैंने देखे उनमें विशेष कर अनुस्वार और पंचम वर्ण के प्रयोग में बड़ा गड़बड़ पाया। एक नियम का अनुकरण किसी एक पृष्ठ में भी नहीं पाया गया। यही अवस्था हिंदी के प्रायः सभी ग्रंथों की है। इस संस्करण में मैंने कहीं पंचम वर्ण का प्रयोग नहीं किया है। सब जगह अनुस्वार से ही काम लिया है। यह नया ढँग है।

इस संस्करण का छपना प्रारंभ हो जाने पर ऐसा ज्ञात हुआ कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने गत नवंबर के अधिवेशन में इस ग्रंथ को मैट्रीक्यूलेशन परीक्षा के लिये चुनना विचारा है। अतएव इस संस्करण में से कुछ ऐसे अंश निकाल दिए गए हैं जो विद्यार्थियों के अध्ययन करने योग्य न थे।

अंत में मैं कुँवर कन्हैयासिंह का बड़ा अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने इस ग्रंथ के छपाने की आज्ञा देकर मुझे सफल-मनोरथ किया। साथ ही मैं अपने मित्र ठाकुर हनुमंतसिंह का भी कृतज्ञ हूँ कि जिन्होंने इस आज्ञा के प्राप्त करने में मेरी सहायता की।

काशी
२२-१२-०८

श्यामसुंदरदास

भरत की तपस्या

राजा लक्ष्मणसिंह का जीवनचरित

हामुनि वेदव्यास जी ने कहा है कि "संसार में मनुष्य का तन पाना बड़ा दुर्लभ है। किन्तु जो भाग्य से मनुष्य का शरीर तो मिल गया और विद्या न हुई तो वह (शरीर) वृथा ही है। और जो मनुष्य की देह पाने पर विद्या भी हुई तो उस (विद्या) में 'कवित्व' का पाना तो बहुत ही दुर्लभ है। पर जो कहीं मनुष्य-तन के पाने पर विद्या के साथ ही साथ कवित्व भी मिल गया तो उस (कवित्व) में 'शक्ति' का पाना तो बहुत ही दुर्लभ समझना चाहिए"*। इसलिये जो पुरुष इन (मनुष्य-तन, विद्या, कवित्व और शक्ति) चारों सामग्रियों से भरे पूरे हों, उन्हें स्वर्ग का देवता समझना चाहिए। और जो केवल मनुष्य-तन भर रखते हों उनमें और पशुओं में कोई भेद नहीं है†।

---

* नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥
(अग्निपुराण)

† "साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"।
(उद्भट)

बस, आज हम एक ऐसे ही महात्मा सुकवि की जीवनी लिख-कर अपनी लेखनी को पवित्र करते हैं। इनका नाम—

राजा लक्ष्मणसिंह

है। इन्होंने ९ वीं अक्तूबर सन् १८२६ ई० को जगत् उजागर यदुवंशी क्षत्रिय-कुल में अपने पुरुषाओं की जन्मभूमि आगरे* में जन्म लिया। जब से ये तोतली बोली बोलने लगे थे, तभी से इनकी शिक्षा की ओर इनके घरवालों ने ध्यान दिया था। पर जब ये पाँच वर्ष के हुए और इनका मुंडन (संस्कार) हो गया, तब इन्हें विधि से विद्यारंभ कराया गया। और जब ये भली भाँति संध्यापद्धति पढ़ चुके और नागरी अक्षरों का भी पूरा पूरा इन्हें अभ्यास हो गया, तब इन्हें पंडित जी संस्कृत और हिंदी, और मियाँ जी फ़ारसी पढ़ाने लगे। यों ही छः वर्ष की अवस्था से तेरह वर्ष तक ये घर ही पर संस्कृत, हिंदी और फ़ारसी पढ़ते रहे।

यद्यपि इनके पिता से लोग बराबर कहा करते थे कि "लड़के को स्कूल में भर्ती कर दीजिए" पर वे पक्के और पुराने ढर्रे के हिंदू थे। इसलिये उन्होंने अपने मित्रों से यही कहा कि "जब इस (बालक) का यज्ञोपवीत (संस्कार) हो जायगा तब मैं इसे कालेज में भर्ती कराऊँगा, तब तक यह घर ही पर पढ़कर और भी पक्का हो जाय।

---

* पंडित लोग आगरे को अग्रनगर वा अग्रद्वीप बतलाते हैं।

निदान जैसे मुंडन होने पर (पाँचवें वर्ष) इन्हें विद्यारंभ कराया गया था, वैसे ही यज्ञोपवीत होने पर (बारहवें वर्ष) ये सन् १८३९ ई० में आगरा कालेज में अँगरेज़ी पढ़ने के लिये बैठाए गए। यहाँ पर ये अपनी तीखी बुद्धि और कड़े परिश्रम के कारण जल्दी जल्दी ऊपर के क्लासों में पहुँचते और बराबर पारितोषिक तथा छात्र-वृत्ति (स्कालर-शिप) पाते गए। इनके पढ़ने की ऐसी धूम रही कि ये सदा अपने क्लास में फ़र्स्ट या सेकेंड रहे, और पारितोषिक और छात्र-वृत्ति भी पहले या दूसरे नंबर की बराबर पाते गए। इनकी ऐसी विचित्र बुद्धि देखकर इनके संग के पढ़नेवाले लड़के सदा इनसे दबे रहते और अध्यापक लोग इन पर चित्त से बड़ा स्नेह रखते थे। एक दिन कालेज के हेड मास्टर साहब ने इनके पिता से सैकड़ों भलेमानसों के बीच में कहा था कि "यह लड़का बड़ा होनहार जान पड़ता है"। उस समय तक विश्वविद्यालय स्थापित नहीं हुए थे और न बी० ए०, एम० ए० आदि की परीक्षाएँ ही चली थीं। केवल जूनियर और सीनियर ये ही दोनों परीक्षाएँ थीं। राजा साहब ने सीनियर तक पढ़ा।

कालेज में अँगरेज़ी के साथ दूसरी भाषा (सेकेंड लैंगवेज) इन्होंने संस्कृत ली थी और घर पर ये हिंदी, फ़ारसी और अरबी आदि भाषाओं का अभ्यास किया करते थे। कालेज छोड़ने पर इन्हें संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, ब्रजभाषा, अँगरेज़ी, फ़ारसी, अरबी, उर्दू और गुजराती भाषाओं का भली भाँति

अभ्यास हो गया था। और फिर पीछे इन्होंने बंगालियों के सत्संग से बँगला का भी अभ्यास किया था।

निदान सात वष तक कालेज में पढ़कर और वहाँ की सब परीक्षाओं में पास हो, चौबीस वर्ष की अवस्था में (सन् १८५० ई०) ये पश्चिमोत्तर देश के लेफ्टिनेंट गवर्नर (छोटे लाट) के दफ़्तर में सौ रुपए महीने पर उल्था करने के काम पर नियत हुए और भलो भाँति उस काम को करते रहे। इस काम को इन्होंने ऐसी अच्छा रीति से निबाहा कि तीन ही वर्ष में लाट साहब ने इनके कामों से प्रसन्न होकर (सन् १८५३ ई०) इन्हें डेढ़ सौ रुपए महीने पर सदर बोर्ड का प्रधान अनुवादक बनाया। यहाँ पर भी इन्होंने अपनी बुद्धिमानी और कामकाज की चतुराई से अपने को हाकिमों की आँखों में ऐसा जँचाया कि दो ही वर्ष पीछे (सन् १८५५ई०) ये ढाई सौ रुपए महीने पर इटावे के तहसीलदार हुए।

इटावे में आकर इन्होंने अपनी मिलनसारी और मीठे स्वभाव से वहाँवालों को ऐसा मोह लिया कि सबके सब इनकी मुट्ठी में आ गए। उस समय ह्यूम साहब इटावे के कलक्टर थे। उनसे और राजा लक्ष्मणसिंह से बड़ा स्नेह हो गया। एक दिन राजा साहब ने ह्यूम साहब से कहा कि "बड़े दुःख की बात है कि इटावे में कोई भी ऐसा स्कूल नहीं है जहाँ पर यहाँवालों के लड़के पढ़ सकें। जो आप सरीखे विद्यानुरागी के समय में यहाँ कोई स्कूल न खुला, तो आपके कलक्टर होने

से यहाँवालों को क्या लाभ हुआ ?" इस पर साहब ने हँसकर कहा कि "आप उद्योग करिए, मैं सब तरह से आपके साथ हूँ"। बस, फिर क्या था ? साहब के मुख से इतना सुनते ही राजा साहब उद्योग करने लगे। फिर देर क्यों होने लगी थी ? इटावे के जितने रईस थे, सबों ने राजा साहब का साथ दिया; कलक्टर साहब भी साथ दे रहे थे। बस, चटपट राजा साहब ने कलक्टर साहब के नाम पर बड़े धूमधाम से "ह्यूम हाई स्कूल" खोला जो कि अभी तक बराबर चल रहा है और उस स्कूल के कितने ही लड़के पढ़ लिखकर आज दिन बड़े बड़े पदों पर नियत हैं। इटावे में रहकर राजा साहब ने तहसीलदारी के काम को ऐसी अच्छी रीति से निबाहा कि उससे प्रसन्न होकर ह्यूम साहब ने इनकी बड़ी बड़ाई गवर्नमेंट में लिखी, जिसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में अर्थात् ग़दर से कुछ दिन पहले (सन् १८५६—५७ ई०) ये डिपुटी कलक्टर बनाकर बाँदे भेजे गए। वहाँ कई महीने काम करने पर छुट्टी लेकर अपने सहोदर कुँवर मोहनलालसिंह के विवाह में संमिलित होने के लिये घर (आगरे) आते थे कि इतने ही में ग़दर मच गया। इटावे से सात आठ मील पर लखना एक गाँव है। यहीं पर राजा साहब को यह पता लगा कि इटावे में भी बलवा हो गया है। ग़दर के समय में घर न आने से घर के लोग घबड़ाए हुए थे। इसलिये राजा साहब के मामा इन्हें लाने के लिये भेजे गए।

ये इनसे यहीं पर मिले। राजा साहब यहाँ से इटावे आए तो क्या देखते हैं कि लूट मार मची हुई है और कलक्टर साहब शहर छोड़ भाग गए हैं। इनसे ये जाकर मिले और तब ह्यूम साहब ने कहा कि "लक्ष्मणसिंह! यह समय हम लोगों के लिये बड़ी आपदा का है। ऐसे अवसर पर आप घर जाना चाहते हैं या हमारी सहायता करना?" राजा साहब ने कहा, "घर जाने का विचार मैंने ग़दर का नाम सुनते ही छोड़ दिया। अब प्राण रहते जो कुछ मैं कर सकता होऊँ, करने को खड़ा हूँ; बताइए, इस समय मैं क्या करूँ"। साहब बोले, "आप किसी तरह से साहबों के मेम और बच्चों को यहाँ (इटावे) से आगरे के क़िले में पहुँचा सकते हैं?" राजा साहब ने कहा, "जो आप १२ घंटे की मुझे छुट्टी दें तो मैं इस काम को भली भाँति कर सकूँगा।"

निदान राजा साहब ने वहाँ दो ढाई सौ आदमियों को इकट्ठा किया और उनकी रक्षा में मेम साहबों को आगरे पहुँचाया। जिस समय राजा साहब इटावे में तहसीलदार थे, तो पंडित किशनलाल नाम के एक व्यक्ति को ख़ज़ाने में ७० रु० मासिक पर नियत कराया था। इस ग़दर के समय में उन्हीं पंडित किशनलाल ने काम किया। जितने अँगरेज़ अफ़सर थे वे तो शहर छोड़कर इधर उधर जा छिपे। पंडित किशनलाल ने कोतवाली में डेरा जमाया और बड़ी योग्यता से शहर का प्रबंध किया। अस्तु, राजा साहब ने आगरे पहुँचकर

राजपूतों को इकट्ठा करना प्रारंभ किया और चाहते ही थे कि उस सेना को लेकर इटावे पहुँचें कि ह्यूम साहब अपने मित्रों के साथ आगरे इनके घर पर आ पहुँचे। राजा साहब ने इनको अत्यंत रक्षा से अपने ही स्थान पर रक्खा और जब बृटिश सेना ने दिल्ली पर विजय प्राप्त की तो ये अपने दलबल के साथ इटावे पर आ डटे। कई लड़ाइयाँ हुईं, पर राजा लक्ष्मणसिंह स्वयं सबमें उपस्थित थे। उस सेना में जितने अफ़सर थे सब इनके विश्वासी संबंधी थे। शाहज़ादा फीरोज़-शाह से भी यहीं पर लड़ाई हुई। राजा साहब का प्यारा घोड़ा इन्हीं लड़ाइयों में घायल हुआ। निदान कई महीने की लड़ाई पर राजा साहब ने विद्रोहियों पर विजय प्राप्त की और इटावे में पुनः शांतिमय राज्य स्थापित हुआ।

इनकी इस कठिन समय की सेवा से प्रसन्न हो ह्यूम साहब चाहते थे कि इन्हें ररु का इलाक़ा गवर्नमेंट से माफ़ी दिलावें, पर राजा साहब ने इसे लेना स्वीकार नहीं किया। आगरे के ज़िले में जो राजा साहब के गाँव हैं, उनमें एक ज़मींदार की ज़मीन थी जिस पर कर नहीं लगता था। इस माफ़ी ज़मीन से राजा साहब का इलाक़ा तितर बितर रहता और समस्त एकत्र न होने से ठीक प्रबंध न हो सकता। यह ज़मींदार विद्रोहियों में जा मिला और गवर्नमेंट ने उसका इलाक़ा छीनकर राजा साहब को अर्पित किया। गवर्नमेंट ने प्रसन्न हो इन्हें २०००) की ख़िलत दी और प्रथम श्रेणी का डिप्टी कलक्टर बनाया,

और ज्यों ज्यों डिप्टी कलक्टरों का वेतन बढ़ता गया, वे सदा प्रथम श्रेणी में ही रक्खे गए। अंत में ये ८००) रु० मासिक बराबर पाते रहे और बुलंदशहर के डिप्टी कलक्टर नियत हुए। यहाँ इन्होंने बीस वर्ष तक काम किया और अंत में सन् १८८८ में चार सौ की पेंशन ले आगरे में रहने लगे। सन् १८७७ ई० के दिल्ली दर्बार में इन्हें "राजा" की पदवी दी गई।

यद्यपि डिप्टी कलक्टरी के कामों से इन्हें बहुत थोड़ी छुट्टी मिलती थी तो भी हिंदी की ओर इनका ऐसा प्रेम था कि जो कुछ समय बचता उसे ये पुस्तकों के उल्था करने में लगाते थे। उन्होंने गवर्नमेंट की बहुतेरी पुस्तकों का (अँगरेज़ी और फ़ारसी से) ठेठ हिंदी में अनुवाद किया है, और 'ताज़ीरात हिंद' का भी 'दंडसंग्रह' नाम रखकर इन्हीं ने अनुवाद किया है। जब ये बुलंदशहर में डिप्टी कलक्टरी का काम करते थे, तब वहाँ के इतिहास को भी बनाकर हिंदी, अँगरेज़ी और उर्दू में इन्होंने छपवाया था।

हमारा संबंध उनसे हिंदी के नाते से है, इसलिये इनकी और सब हिंदी पुस्तकों को छोड़कर केवल उनमें सबसे उत्तम पुस्तकों के विषय में हम कुछ कहेंगे, कि जिसके कारण ये भारतवर्ष से लेकर योरप तक के पढ़े लिखे लोगों से बहुत बड़ी बड़ाई को पा चुके हैं और अपने यश को सदा के लिये अचल कर गए हैं। उन पुस्तकों के नाम हैं—शकुंतला, मेघदूत और रघुवंश।

यद्यपि हिंदी गद्य के जन्मदाता श्रीलल्लूजीलाल कवि हुए*, किंतु राजा लक्ष्मणसिंह† ने प्रेमसागर के पूरे होने के पचास वर्ष पीछे ऐसी सीधी, ठेठ, मीठी और शुद्ध हिंदी लिखी कि हम इन्हें ठेठ हिंदी का पहला और एक ही लेखक कहें तो कुछ अनुचित न होगा‡। और सबसे बढ़कर तो उन्होंने यह काम किया कि जैसी (सरल व ठेठ) हिंदी लिखनी प्रारंभ की थी, अंत तक उसी ढंग को निबाहा और कभी भूलकर भी अपने सिद्धांत में गड़बड़ न होने दिया।

उन्होंने पहले पहल (सन् १८६१ ई० में) शकुंतला नाटक का हिंदी (गद्य) में अनुवाद किया जो कि सन् १८६३ ई० में छपा था। उस पर लोगों ने इतना चाव दिखलाया कि वह राजा शिवप्रसाद के गुटके में घुसकर शिक्षाविभाग की पढ़ाई में पहुँचा। इस पर लोग ऐसे लट्टू हुए कि भारतवर्ष की कौन कहे, योरप के बड़े बड़े समाचारपत्रों, विशेष कर मिस्टर फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने, इसकी इतनी बड़ाई की थी कि

---

* इनका पहला ग्रंथ 'प्रेमसागर' सन् १८१० ई० में पूरा होकर छपा और पाठशालाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाने लगा।

† लल्लूजीलाल कवि का सन् १८१८ तक वर्तमान रहना तो उनकी लालचंद्रिका से सिद्ध है। नहीं विदित कि वे कब तक जीए।

‡ श्रीलल्लूजीलाल कवि की आदि वा पहली हिंदी से उन्हीं के समय से थोड़े दिन पीछे के राजा लक्ष्मणसिंह की हिंदी में आकाश पाताल का भेद है। इस बात को पढ़नेवाले प्रेमसागर और शकुंतला की पुस्तकें हाथ में लेकर आप समझ सकते हैं।

जिसके रखने के लिये राजा लक्ष्मणसिंह के हृदय में स्थान न था। परंतु हम उस (पहले) अनुवाद के विषय में कुछ नहीं कहा चाहते, क्योंकि पहले अनुवाद के विषय में राजा साहब आप लिखते हैं कि, "सन् १८६१ ई० में जब कि मेरी स्थिति इटावे के ज़िले में थी, मैंने 'शकुंतला' की विलक्षण कविता और अति मनोहर कथा देखकर विचार किया कि महाकवि कालिदास का यह उत्तम ग्रंथ साधारण हिंदी बोली में उल्था हो जाय तो इसे लोग बहुत आनंद से पढ़ेंगे और इससे हिंदी भाषा की वृद्धि में सहायता पहुँचेगी। ऐसा समझकर मैंने अपने थोड़े समय को, जो सरकारी कामों से बचता था, इस विषय में लगाया और दो डेढ़ बरस के भीतर अनुवाद पूरा करके सन् १८६३ ई० में छपवा दिया*।

"उन दिनों इटावे में कोई पुस्तकालय न था और आस पास के नगरों में अच्छे अच्छे पुस्तकालय भी तीन चार बरस

---

* राजा साहब आप लिखते हैं कि "जब मैंने पहले पहल शकुंतला का हिंदी में अनुवाद किया, प्रबोधचंद्रोदय को छोड़कर और कोई नाटक इस भाषा में न था" (सन् १८६१—६२ ई०) किंतु बाबू हरिश्चंद्र अपने "नाटक" नामक नाटक-रचना-प्रणाली में लिखते हैं कि "भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य-चरण श्रीकविवर गिरधरदास, (वास्तविक नाम बाबू गोपालचंद्र जी) का नहुष 'नाटक' है।

"हिंदी-भाषा में दूसरा ग्रंथ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणों से यह नाटक उत्तम ग्रंथों की गिनती में है।"

पहले ग़दर में नष्ट हो चुके थे। इसलिये जो कहीं कुछ संदेह मूल का पाठ अथवा अर्थ समझने से हुआ, पुस्तकों के अभाव में उसका दूर करना कठिन क्या असाध्य हो गया। तिस पर भी दुर्भाग्यवश मूल की पुस्तक (हाथ की लिखी हुई) अति जीर्ण और अशुद्ध मिली। उसमें बहुत जगह मूल के शब्द टीका में और टीका के मूल में मिल रहे थे और कहीं कहीं अक्षर मिट भी गए थे। ऐसी पुस्तक से जो अनुवाद किया जाय उसका बहुत शुद्ध होना आश्चर्य्य होता। कोढ़ में खाज! वह पुस्तक उस पाठ की थी जो बँगला पाठ कहलाता है और जिसे पंडित लोग अशुद्ध बतलाते हैं। ये सब दोष मैंने उल्था करते समय नहीं जाने, परंतु कुछ दिन पीछे जब कि महाशय सर मोनियर विलियम्स का छपवाया हुआ शकुंतला का शुद्ध पाठ देखने में आया। मूल के इन दोषों के कारण अनुवाद भी बहुत जगह अशुद्ध हो गया परंतु अब मैंने इस दूसरी बार के छापे में अपने जान सब दोष दूर कर दिए हैं।

"मेरे पहले अनुवाद में एक विशेष न्यूनता यह रह गई थी कि मूल के श्लोकों का आशय हिंदी के छंदों में नहीं किंतु साधारण वार्त्ता में दिया गया था। इसका हेतु केवल मेरा अनुवाद था। इस न्यूनता के कारण न तो अनुवाद के पढ़ने-वालों को कविता का पूरा स्वाद मिलता था, न ग्रंथ इस योग्य था कि स्वाँग रचकर नाटक दिखलाया जाय। अब मैंने अवकाश पाकर यह न्यूनता भी मिटा दी, अर्थात् मूल के प्रत्येक श्लोक

का उल्था हिंदी के दोहे, चौपाई, सवैया इत्यादि छंदों में कर दिया है और प्रत्येक छंद के नीचे उसकी टीका लिख दी है। परंतु मुझे कुछ भी भरोसा नहीं है कि ये छंद कुछ भी ललित समझे जायँगे; क्योंकि एक तो मैं कवि नहीं हूँ, दूसरे यह नियम रक्खा गया है कि अनुवाद में मूल के आशय से कुछ न्यूनाधिक न हो जाय, अर्थात् मूल के अक्षरों का अर्थ न तो कुछ छुटने पावे और न बाहर से नया आशय लाया जाय; एवं तीसरे एक भाषा के छंद को दूसरी भाषा के छंद में उल्था करना कठिन काम होता ही है"—इत्यादि।

सचमुच शकुंतला के इस अनुवाद में, जो कि पीछे सन् १८८९ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने गद्य पद्य सहित बनाया है, इन्होंने बड़ा ही काम किया है। आज तक जितने संस्कृत-नाटकों के हिंदी अनुवाद देखे गए हैं, उन सभों में शुद्ध और संस्कृत से मिलते हुए दो ही नाटकों के अनुवाद बड़ाई के योग्य हैं; एक तो राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला और दूसरा भारतेंदु हरिश्चंद्र का मुद्राराक्षस। हम उन रसिकों से प्रार्थना करते हैं, जिन्हें संस्कृत और हिंदी भाषा में पूरा अभ्यास है, कि यदि आप लोग एक हाथ में संस्कृत की शकुंतला और दूसरे हाथ में भाषा की शकुंतला लेकर पढ़ेंगे तो आप भली भाँति इस बात को समझ सकेंगे कि राजा लक्ष्मणसिंह ने शकुंतला के अनुवाद करने में अपनी विद्या, बुद्धि, जानकारी और अपनी लेखनी की कैसी आश्चर्य्यमय शक्ति दिखलाई है।

केवल नमूने के लिये हम शकुंतला में से थोड़े से गद्य पद्य को लिख देते हैं। क्योंकि बुद्धिमानों के लिये इतना ही बहुत होगा।

नांदी (प्रस्तावना में)

श्लोक

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवंतः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

छप्पय

आदि सृष्टि इक नाम नाम इक विधि हुतबाहन।
बहुरि नाम यजमान जोति द्वै कला बतावन॥
एक सर्वव्यापीक-श्रवन गुन जात पुकारा।
भूत प्रकृति फिर एक जनति अग जग संसारा॥
गनिये जु जीव आधार पुनि अष्टमूर्त्ति इनतें कहत।
शंकर सहाय तुम्हारी करैं नित प्रति तिनही में रहत॥

अर्थ (श्लोक का)

जिसको कर्त्ता ने सृष्टि के आदि में रचा, अर्थात् जल, और जो विधिपूर्वक दिए हव्य को लेता है अर्थात् अग्नि और जो यज्ञ करता है, अर्थात् होत्री और दोनों ज्योति जिनसे समयविधान होता है, अर्थात् चंद्र सूर्य्य, और वह विश्वव्यापी जिसका गुण शब्द है, अर्थात् आकाश और वह जिसकी प्रकृति बीज की वृद्धि की है, अर्थात् पृथ्वी, और वह जो जीव का

आधार है, अर्थात् पवन, इन आठ मूर्त्तियों में जो ईश प्रत्यक्ष है, अर्थात् महादेवजी, सोई तुम्हारी रक्षा करें।

नटी ग्रीष्म की शोभा के विषय में कहती है (प्रस्तावना में)—

श्लोक *

ईषदीषच्चुंबितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयंति दयमाना प्रमदाः शिरीषकुसुमानि॥

राग बहार वा वसंत

कैसे भ्रमर चुंबन करत।
नाग केसर को सुअंकन रहसि रहिसिहि भरत॥
सिरस फूलन कान धरि बनयुवति मन को हरत।
देत शोभा परम सुंदर सरस ऋतु लखि परत॥

अर्थ

"देखो भौंरे कैसे धीरे धीरे नागकेसर का रस लेते हैं और उसे अंक में भरते हैं! फिर देखो वनवासिनी नवयौवना सिरस के फूलों का कैसा गहना बनाकर कान पर रखती हैं! यह ग्रीष्म ऋतु बड़ी सुन्दर है!"

राजा पहले पहल शकुंतला को देखकर आप ही आप कहता है, (पहले अंक में)—

"राजा (आत्मगतं)—कथमियं सा कण्वदुहिता। असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् काश्यपः य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते।

---

* हमने इस प्रबंध में स्त्रियों की प्राकृत भाषा के उदाहरण को उनके अर्थ (संस्कृत) ही में दिखलाया है, इसका कारण विस्तार-भय है।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥

दुष्यंत (आप ही आप)—यह कण्व की बेटी शकुंतला क्योंकर हुई ? वह ऋषि बड़ा अविवेकी होगा जिसने ऐसी सुकुमारी को आश्रम-धर्म में लगाया है ।

दोहा

सहज मनोहर रूप यह, तनक बनावटि नाहिं ।
ताहि लगावन चहत मुनि, कठिन तपोव्रत माहिं ॥
मोहि न दीखत है उचित, उनको यहै विचार ।
मनहुँ कमल दल धार सों, काटत छोंकर* डार ॥

इस कोमल अंगवाली से तपस्या कराना ऐसा है जैसे कमल की पँखड़ी से छोंकर की डाली काटना । इसलिये जिस मुनि ने इसे तप में लगाया है वह अविवेकी है । इस युवती का रूप बनावट का सा नहीं ।"

शकुंतला ने सखियों के कहने से विरह के छंद बनाए (तीसरा अंक)—

शकुंतला (वाचयति)—

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामः दिवा अपि रात्रौ अपि ।
निर्घृणं तपति बलीयः त्वयि वृत्तमनोरथानि अंगानि ॥

राजा (सहसोपसृत्य)—

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव ।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथाहि कुमुद्वतीं दिवसः ॥

---

* छोंकर = शमी वृक्ष ।

शकुंतला (बाँचती) है—

दोहा

तो मन की जानत नहीं अहो मीत बेपीर ।
पै मैं। मन को करत नित मनमथ अधिक अधीर ॥

सोरठा

लाग्यो तो सों नेह रैन दिना कल ना परै ।
काम तपावत देह अभिलाषा तुहि मिलन की ॥

अर्थ

हे मीत! मैं तेरे मन की तो जानती नहीं हूँ, परंतु मेरे मन को कामदेव नित्त बेचैन करता है और मेर शरीर को, जो तुझसे मिलने का अभिलाषी है, तपाता है ।

दुष्यंत (झटपट आगे बढ़कर)—

दोहा

केवल तोहि तपावही मदन अहो सुकुमारि ।
भस्म करत पै मो हियो तू चित देखि-विचारि ॥

सोरठा

भानु मंद कर देत केवल गंध कमोदिनिहिं ।
पै शशिमण्डल स्वेत होत प्रात के दरस तें ॥

हे सुन्दरी, तुझे तो कामदेव तपाता ही है, पर मुझे भस्म ही किए डालता है, जैसे दिन कमोदिनी की शोभा को इतना नहीं बिगाड़ता जितना कि चन्द्रमा की शोभा को ।

विलियम्स के प्रकाशित शकुंतला नाटक से मिलाना चाहिए, क्योंकि राजा साहब ने उसी से इसका अनुवाद किया है* ।

हमारी समझ में राजा साहब ने एक काम इस (शकुंतला) में अनुचित किया है, अर्थात् कई पात्रों के नाम तोड़ फोड़ डाले हैं, जैसे माधव्य को माढव्य इत्यादि । पर इसकी कोई आवश्यकता न थी । यदि पात्रों का नाम ज्यों का त्यों रहता तो ठीक था ।

विचारने से अचरज होता है कि क्या राजा लक्ष्मणसिंह इस अनोखी शक्ति को अपने साथ लेकर जन्मे थे ! देखिए, पहले पहल उन्होंने जैसी मन को लुभानेवाली, मीठी, सीधी और रसीली भाषा लिखी, वैसी आज तक किसी की लेखनी से नहीं निकली । और सबसे बढ़कर तो यह है कि जब लल्लूलालजी ने केवल हिंदी गद्य को जन्म ही दिया था, जब कि इसके लिखनेवाले नहीं बढ़े थे, जब कि यह भी कोई नहीं जानता था कि हिंदी किस ढंग की लिखनी चाहिए, जब कि लोगों के मत इस बात के निर्णय करने में, कि फ़ारसी, अरबी शब्दों को लेना चाहिए या नहीं, सोए ही पड़े थे, उसी†

---

* आज तक हमने १९ प्रेसों की छपी हुई शकुंतला देखीं, पर सभों में ही एक दूसरी से कुछ न कुछ पाठांतर है ।

† हिंदी लिखने की प्रणाली के विषय में पहले सन् १८६६—६७ ई० में योरोपीय विद्वान् बीम्स और ग्राउस में विवाद हुआ था, पर निर्णय कुछ भी न हुआ ।

समय अमसोची बुद्धिसागर लक्ष्मणसिंह की दैवी शक्ति ने हिंदी लिखने के ढंग का सिद्धांत कर दिया था। यह सिद्धांत इन्होंने जिस दिन हिंदी लिखने के लिये हाथ में पहले पहल लेखनी उठाई (सन् १८६१ ई० शकुंतला का लिखा जाना) उसी दिन कर लिया था और उस सिद्धांत को आदि से अंत तक ऐसी दृढ़ता से निबाहा कि गद्य की कौन कहे, अपने पद्य में भी विदेशी (अरबी, फ़ारसी) एक शब्द को नहीं आने दिया*। यह काम थोड़े साहस का नहीं है†। धन्य हो लक्ष्मणसिंह! तुम्हें जो भारतवर्ष और योरप के विद्वानों और समाचारपत्रों ने "भाषा का कलिदास" कहा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

यद्यपि राजा साहब का हिंदी लिखने में जो कुछ सिद्धांत था वह शकुंतला (सन् १८६१ ई०) से ही प्रगट है, तो भी इन्होंने अपने उस अटल सिद्धांत को (१८७८ ई० में)

---

* शकुंतला, रघुवंश, मेघदूत को आदि से अंत तक पढ़िए; एक शब्द फ़ारसी अरबी का न पाइएगा। यदि कोई शब्द फ़ारसी का आ भी गया है तो बिगड़ा हुआ हिंदीवत् होकर आया है।

† पुराने समय से, जब से कि हिंदी पद्य के लिखे जाने का पता लगता है (एक सहस्र वर्ष पूर्व) तब से आज तक चंद, देव, सूर, तुलसी, नागरीदास, हरिश्चंद्र आदि जितने कवि हुए उनमें से ऐसा आज तक कोई न हुआ जिसने अपनी कविता में फ़ारसी अरबी शब्दों का प्रयोग न किया हो। बस, इस दोष से यदि किसी ने अपने को बचाया तो राजा लक्ष्मणसिंह ने।

रघुवंश के अनुवाद करने के समय उसकी भूमिका में प्रगट कर दिया है। देखिए आप क्या लिखते हैं—

"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमान और फ़ारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी फ़ारसी के, परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी फ़ारसी के शब्दों बिना हिंदी न बोली जाय; और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी फ़ारसी के शब्द भरे हों।"

प्यारे पाठक! आपने देखा? यद्यपि राजा साहब का यह सिद्धांत पहले ही (सन् १८६१) से था, पर बीम्स और ग्राउस के हिंदीवाले विवाद का निपटेरा न होने पर भी इन्होंने अपने सिद्धांत को सबके आगे (सन् १८७८ ई०) प्रगट कर ही दिया।

सन् १८७८ ई० में राजा साहब ने रघुवंश का उल्था किया। इसके उल्था करने का प्रयोजन इन्होंने आप ही लिख दिया है, देखिए—

"रघुवंश को साधारण हिंदी बोली में उल्था करने से हमारा मुख्य प्रयोजन यही है कि इस ग्रंथ के पढ़ने पढ़ानेवालों को उल्था से सहायता मिले। इसलिये हमने नियम रक्खा है कि मूल का कोई अक्षर उल्था होने से रह न जाय, न कोई अधिक अक्षर उल्था में बाहर से लाया जाय और विभक्त्यर्थ

भी जहाँ तक हो सका उलट पलट नहीं होने दिया है, क्योंकि विभक्तियों का अर्थ पलटने से श्लोक का आशय समझने में विद्यार्थी बहक जाता है।

"हम जानते हैं कि उल्था में कहीं भावार्थ ऐसा सरल न मिलेगा जैसा कि चाहिए। इसके दो हेतु हैं, एक ऊपर कहे हुए नियमों का निबाहना, दूसरे मूल की लाघवता। संस्कृत में यह विशेष गुण है कि बड़े बड़े विशेषण थोड़े अक्षरों में आ जाते हैं* हिंदी में ऐसा नहीं हो सकता और इसी लिये उल्था में बार बार 'वाला' शब्द लाना पड़ा।

"फिर भी जहाँ तक हो सका उल्था को सुगम करने के लिये कई उपाय किए गए हैं—एक यह कि कठिन श्लोकों का भावार्थ टिप्पन में लिख दिया है। दूसरे जो कोई शब्द मूल से अधिक लाना पड़ा, इस प्रकार ( ) के कोठे में लिखा है। पढ़नेवालों को स्मरण रहे कि कोठे के भीतर का लेख मूल के किसी पद का उल्था नहीं है, अर्थ की सुगमता के लिये बाहर का सहारा है। तीसरे जहाँ किसी पद के दो अथवा अधिक विशेषण हैं वहाँ एक एक विशेषण के पीछे इस, प्रकार का चिह्न लिख दिया है जिससे उनकी भिन्नता जान पड़े और

---

* उदाहरण—तमातिथ्यक्रियाशांतरथक्षोभपरिश्रमम्।
(रघुवंश, २८ श्लोक, १ सर्ग)
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम्।
(रघुवंश, २९ श्लोक, ४ सर्ग)

यहां चिह्न कहीं कहीं इसलिये भी रक्खा है कि इससे अगला लेख पिछले से कुछ अलग समझा जाय। पढ़नेवालों को चाहिए कि इस चिह्न पर कुछ ठहरकर आगे बढ़ें। जहाँ अधिक भिन्नता दिखानी है वहाँ ऐसा; चिह्न लिखा है। चौथे जहाँ कवि ने दूसरे का वचन कहा है वहाँ वह वचन इस " " प्रकार के संकेत में लिखा है और जो वाक्य के भीतर वाक्य है वह ' ' ऐसे संकेत में रक्खा है। पाँचवें कथा का अनुबंध दिखाने के लिये प्रत्येक सर्ग का संक्षेप कर दिया है*।

"हमको निश्चय है कि पाठक जन हमारे नियमों को विचारकर और काव्य की कठिनाई देखकर इस उल्था के अवगुण क्षमा करेंगे....."

सचमुच राजा साहब ने रघुवंश की भूमिका में जो कुछ लिखा है उसमें एक अक्षर भी झूठ नहीं है, और सच तो यों है कि आज तक किसी काव्य का हिंदी अनुवाद इस ढंग का नहीं हुआ। जिन्हें कालिदास की कविता का प्रेम है वे यदि राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद के साथ संस्कृत का रघुवंश

---

* रघुवंश के उन्नीसों सर्ग की कथा को प्रारंभ में गद्य में लिखकर राजा साहब ने विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है। यह (संस्कृत रघुवंश) सभी युनिवर्सिटियों में कोर्स है; और परीक्षा में कभी कभी किसी न किसी सर्ग की कथा के लिखने का भी प्रश्न दिया जाता है, इसलिए यह ग्रंथ सचमुच विद्यार्थियों के लिये बनाया गया और उनके बड़े काम का है।

पढ़ेंगे तो बड़ा आनंद पावेंगे। हम उदाहरण के लिये दस पाँच श्लोकों को यहाँ लिखकर आगे बढ़ेंगे।

पहले थोड़ी सी कथा उदाहरण के श्लोकों के विषय में सुन लीजिए, तब उनका आशय भली भाँति समझ में आवेगा।

रघु के पुत्र अज हुए। उनकी रानी का नाम इंदुमती था जिससे दशरथ हुए। एक दिन राजा रानी उद्यान में विहार करते थे, कि आकाश-मार्ग से गोकर्णनाथ जी को वीणा सुनाने जाते हुए नारदजी की वीणा से पारिजात के फूल की माला पवन के झोंके से रानी इंदुमती के हृदय पर गिरी, जिसके गिरते ही उसके प्राण गए। क्योंकि पहले जन्म में वह (इंदुमती) हरणी नाम की अप्सरा थी, सो इंद्र के कहने से तृणबिन्दु मुनि का तप भंग करने गई थी। इस पर मुनि ने उसे शाप दिया कि "जा, तू पृथ्वी पर स्त्री होकर रह"। पर जब उसने मुनि की बड़ी विनती की, तब उन्होंने कहा कि "स्वर्ग का फूल देखते ही तू शाप से छूट जायगी"।

बस, माला का गिरना ही इंदुमती के मरने का कारण हुआ। उसके (मरकर) गिरने पर अज ने जो विलाप किया है हम उन्हीं श्लोकों में से कई श्लोक राजा लक्ष्मणसिंह की टीका के साथ उदाहरण की भाँति लिखते हैं, इससे पढ़नेवाले आप समझ लेंगे कि राजा साहब ने इस विचित्र अनुवाद में कैसे अचरज का काम किया है। देखिए, इंदुमती की लोथ को गोद में लेकर अज कैसा विलाप करते हैं—

(अष्टम सर्ग में)

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात् प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रणिधेर्विधेः ॥४४॥

"जब फूल भी देह के संग से आयु का नाश करने को समर्थ हुए, तो हाय ! मारनेवाले दई का साधन और कौन सी वस्तु न होगी" ॥ ४४ ॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥

"अथवा यम कोमल वस्तु को कोमल ही से मारता है । इसमें पहला दृष्टांत पाला लगने से नाश होनेवाली कमलिनी मानी है" ॥ ४५ ॥

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हंति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥

"जो यह माला प्राणघातिनी है तो छाती पर पड़ी हुई मुझे क्यों नहीं मारती ? ईश्वर की इच्छा से कहीं अमृत भी विष होता है, कहीं विष अमृत" ॥ ४६ ॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ ४७ ॥

"अथवा मेरा भाग्य लौटने से ब्रह्मा ने यह (माला) वज्र कर दी है; यद्यपि इसने वृक्ष नहीं गिराया, परंतु उसकी शाखा में लपटी हुई लता विनाश डाली" ॥ ४७ ॥

कृतवत्यसि नावधीरणामपराधोऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥

"जब तैंने मुझ नित्य अपराधी में भी अवज्ञा नहीं की, तो एकाएकी अब इस निरपराधी जन के संभाषण को योग्य क्यों नहीं मानती है" । ४८ ॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचेस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसान्नवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥

"हे सुन्दर मुसकानिवाली ! तैंने मुझे निश्चय अपना छल से प्यार करनवाला शठ जाना, इसी से मेरे पूछे बिना तू फिर न आने के लिये यहाँ से परलोक जाती है" ॥ ४९ ॥

सुरत-श्रम-संभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्मिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥

"परिश्रम के पसीने की बूँद भी तेरे मुख पर वर्तमान है और तू आप अस्त हो गई; धिक्कार है देहधारियों की इस असारता को" ॥ ५१ ॥

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥५२॥

"तेरा अनचाहा मैंने (कभी) मन से भी न किया, तू मुझे क्यों त्यागती है ? पृथ्वी का पति तो मैं कहने ही को हूँ, मन का अनुराग मेरा तुझी में है" ॥ ५२ ॥

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ ५३ ॥

"चन्द्रमा को रात्रि, चकवे को चकई फिर मिलती है, इससे वे दोनों विरह का अंतर सहने को समर्थ हैं; सदा को जानेवाली तू मुझे क्यों न जलावेगी" ॥ ५३ ॥

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥५७॥

"जो नए पत्तों के बिछौने पर भी आया हुआ तेरा कोमल शरीर दुखता था, सो हे मनोहर जाँघोंवाली! बतला इस चिता का चढ़ना कैसे सहेगा"॥ ५७ ॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

"मेरा अब धीरज अस्त हुआ, आनंद मिटा, गाना गया, ऋतु निरुत्सव हुई, आभूषणों का प्रयोजन न रहा, सेज सूनी हुई" ॥६६॥

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषया त्वदाश्रयाः ॥ ६६ ॥

"वैभव में भी तेरे बिना अज का सुख यहीं तक गिनना चाहिए, मुझ अन्य विषय त्यागे हुए के* सब भोग तेरे आसरे थे" ॥ ६६ ॥

बस बहुत कहने का कुछ काम नहीं, समझनेवालों के लिये इतने ही उदाहरण बहुत हैं। राजा साहब ने रघुवंश का अनुवाद पद्य में भी आरंभ किया था, पर ईश्वर को स्वीकार न हुआ कि यह रत्न भी भाषा-पद्य में हो जाय।

अब हम राजा लक्ष्मणसिंह के तीसरे ग्रंथ मेघदूत काव्य के बारे में कुछ लिखते हैं। इस ग्रंथ का पद्यमय अनुवाद

---

* अन्य विषय त्यागा हुआ अर्थात् जो और किसी विषय में आसक्त न ह

राजा साहब ने सन् १८८२ ई० में पहले (पूर्व-मेघ का) किया था, फिर सन् १८८४ ई० में (उत्तर-मेघ का भी अनुवाद करके) इस काव्य को पूरा कर दिया। इस ग्रंथ से भी इन्होंने यहाँ से लेकर योरप तक के पढ़े लिखे लोगों और समाचारपत्रों में इतनी बड़ाई पाई कि जितनी की आशा उन्हें न थी और सचमुच यह ग्रंथ इसी योग्य है। इसकी या इसके कारण राजा लक्ष्मणसिंह की जितनी बड़ाई की जाय थोड़ी है। इस ग्रंथ की भूमिका में राजा साहब ने जो यह लिखा है कि "...हमारे इस तुच्छ आरंभ को देखकर कोई हिंदी भाषा को अल्पता का दोष न देगा, किंतु विदित होगा कि यह भाषा बड़े विस्तार की है," इसे इन्होंने सच कर दिखाया।

हिंदी जाननेवालों, विशेष कर कविता-प्रेमियों में, विरला ही कोई होगा जिसने इस (मेघदूत) काव्य को न देखा होगा। तो भी हम अपने पाठकों के मनबहलाव के लिये आठ श्लोकों को गद्य पद्य के साथ आगे लिखते हैं*, इन्हें देखकर चतुर लोग भली भांति समझ लेंगे कि छोटे से† काव्य में जितनी चतुराई महाकवि कालिदास ने दिखलाई है, अनुवाद

---

* हमने आठ श्लोकों का उदाहरण इसलिये दिया है कि कालिदास ने तो इस (मेघदूत) काव्य को केवल एक ही मंदाक्रांता छंद में बनाया है, पर राजा लक्ष्मणसिंह ने इसका आठ प्रकार के पद्यों में उल्था किया है; यथा—सवैया १, घनाक्षरी २, दोहा ३, कुंडलिया ४, सोरठा ५, चौपाई ६, शिखरिणी ७, छप्पै ८।

† इस छोटे काव्य में सब मिलाकर ११७ श्लोक हैं।

करने में राजा लक्ष्मणसिंह ने उससे थोड़ी निपुनाई नहीं दिखलाई। पहले हम मेघदूत की कथा को सक्षेप में लिख देते हैं, जिसमें पढ़नेवाले इसके आशय को भली भाँति समझ जायँ।

एक यक्ष* अपने अधिकार में असावधान होने के कारण अपने स्वामी कुबेर से वर्ष दिन का देश-निकाला पाकर अलकापुरी छोड़ रामगिरि के वनों में जा बसा। वहाँ आषाढ़ लगते ही मेघ को देखकर वह ऐसा विरह से पागल बन गया कि मेघ को दूत बनाकर अपनी प्यारी के पास उसके हाथ सँदेसा भेजने का विचार कर उसकी विनती करने और सँदेसा कहने लगा। उस (यक्ष) की दीन दशा देख मेघ को भी दया आई और उसने जाकर उस (यक्ष) की प्यारी स्त्री से उसके पति का सँदेसा कहा। मेघ के सँदेसे की अलकापुरी में ऐसी धूम मची कि कुबेर ने प्रसन्न हो, शाप की अवधि घटाकर बीच ही में दोनों (यक्ष और यक्षिनी) का संयोग करा दिया। उसी यक्ष ने जो मेघ से कहा है, उदाहरण में उसका कुछ नमूना देखिए।

श्लोक

(१५) रक्षच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ताद्
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥

---

* यक्ष एक प्रकार के देवता हैं, उनके स्वामी कुबेर हैं।

कुंडलिया

सोहत पूरब ओर यह रतनजान अनुमान।
निकसत बाँबी ते भलो इंद्रचाप रुचदान॥
इंद्रचाप रुचदान जासु मिलि सो तन कारो।
पावत है छबि अधिक लगत नैनन को प्यारो॥
मोर चंद्रिका संग सुभग जैसे मन मोहत।
गोपवेष गोविंद बहुत श्यामल तन सोहत॥

अर्थ

लोकप्रसिद्ध बात है कि इंद्रधनुष साँप की बाँबी से निकलता है। ऐसा ही कालिदास भी कहते हैं और उपमा देते हैं कि काला बादल रंग बिरंगे धनुष से वह शोभा पावेगा जो मोरचंद्रिका से श्रीकृष्ण का श्याम शरीर पाता था।

श्लोक

(२१) नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
रविर्भूतं प्रथममुकुलाः कंदलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्॥

चौपाई

देखि कदंब सुमन मन भाये। हरित स्याम मकरंद सुहाये॥
कूलन माँहि निरखि कंदलिका। नव कुसुमित बहु सुंदर कलिका॥
दावानल भसमित कानन में। भूमि सुगंध सूँघि मुद मन में॥
मोर जलद तुहि आदर दैहैं। आगे बढ़ि बढ़ि पंथ दिखैहैं॥

अर्थ

तेरे बरसने से कदंबों में काले पीले रूओं के फूल लगेंगे, कछारों में कंदली कलियायँगी, दावानल से जले हुए वन में सुगंध उठेगी, इनको देख और सूँघकर मोर मगन होंगे, तेरे आगे उड़ उड़कर मार्ग दिखावेंगे।

श्लोक

(२८) वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकांचीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्त्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरं सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥

सवैया

रस बीच में लै चलियेा निरबंधि कौ जेा मग तेरो निहारती हैं।
मनरंजन चाल अनेाखी चलैं अरु भौंर की नाभि उघारती हैं॥
कटि किंकिन मानेा विहंगम पांति तरंग उठे झनकारती हैं।
बतरान है मीत सों आदि यही तिय विभ्रम मेाहनी डारती हैं॥

अर्थ

मार्ग में निर्विंध्या नदी मिलेगी। उसके तट पर जेा हंसों की पंक्ति बैठी है, सेाई मानेां उसकी कमर की तागड़ी है; हंसों का बेालना है, सेाई तागड़ी के घुँघुरुओं की झनकार है; उसकी चाल भी अनेाखी है, अर्थात् चक्कर खाकर चलती है और उसमें भँवर पड़ता है सेाई मानेां तुझे ललचाने को वह अपनी नाभि दिखाती है, क्योंकि स्त्री का हाव भाव ही प्रीतम के साथ पहला वार्त्तालाप होता है।

श्लोक

(२२) तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पूर्वार्द्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्य्यगम्भः ।
शङ्के शोभां सपदि भवतः स्रोतसिच्छायया सौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेनाभिरामा ॥

शिखरिणी

जु तू इच्छा वाके करि विमल पानी पियन की ।
झुके आधो लंबे तन गगन में ज्यों सुरकरी ॥
बने तो छाया ते तुरत बह धारा ललित सी ।
मनो है कालिंदी अनतहि बिना संगम मिली ॥

अर्थ

जो तू गंगाजी का जल पीने को दिग्गज की भाँति आकाश में लंबा होकर झुकेगा, तो तेरे काले रंग की, छाया श्वेत जल में पड़कर ऐसी शोभा होगी, मानों प्रयाग के बिना ही गंगा यमुना का संगम हुआ है ।

श्लोक

(२३) तं चेद्वायौ सरति सरलस्कंधसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः ।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्त्तिप्रशमनफला सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥

छप्पय

चलत पवन वन प्रबल घिसत तरु सरल परस्पर ।
प्रगटत अनल प्रचंड दहत चमरीमृग कचभर ॥

सो दवागि यदि दहकि देह तिहिं अचल सतावै ।
उचित होइ तव तोहि तुरतही जल बरसावै ॥
करि करि सहस्र धारा जलद दूर तासु बाधा करै ।
फल मुख्य सजन संपति यही पीर पराई नित हरै ॥

अर्थ

पवन चलने से सरल (देवदारु) के वृक्ष आपस में रगड़ते हैं, उनसे आग निकलकर वन में लगती है। चिनगारियों से चमरी मृगों की पूँछ के बाल जलते हैं। कदाचित् तेरे सामने वही दावानल आग पहाड़ में लगे, तो तू तुरंत जल बरसाकर पहाड़ की बाधा मिटा दीजो, क्योंकि सत्पुरुषों की सम्पत्ति का मुख्य फल यही है कि पराई पीर हरे।

श्लोक

(१५) तस्योत्सङ्गे प्रणयिनि इव स्रस्तगंगादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमानै-
र्मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृंदम् ॥

घनाक्षरी

देखि जानि लीजो वा नगेंद्र के बसी है लंक
अलका हमारी तीर जह्नु की दुलारी के ।
पीतम के अंक माहिं एहो कामचारी मेघ
बैठी जिमि नारी छोरे छोर श्वेत सारी के ॥
पावस में सोई नीर चूवत धरैगी तोहि
ऊँचे निकेत सात खन की अटारी के

अबला सँवारै मानो मोतिन सों गूँथे जाल
सीस पै सलौने चारु बेनी बार कारी के ॥

अर्थ

कैलाश के कटक में जाकर देख लीजो, गंगाजी के तीर पर हमारी अलकापुरी ऐसे बस रही है, मानो सुपेद साड़ी के छोर खोले हुए कोई नायिका अपने प्यारे की गोद में बैठी है। वही अलका बरसात में तुझ जल टपकाते हुए को अपने ऊँचे महलों पर ऐसे रख लेगी, जैसे मोतियों से गूँथे हुए काले अलक-जाल को कामिनी अपने मस्तक पर रखती है।

श्लोक

(८२) तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कंठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥

दोहा

ताहि सघन घन जानियो मेरो आधो जीउ ।
रहित अकेली मो बिना चकई ज्यों बिन पीउ ॥
मितभाषिनि उत्कंठिता विरह कठिन दिन जात ।
सीत हनी जिमि कमलिनी औरहि रूप दिखात ॥

अर्थ

उसी को तू मेरी अर्द्धांगिनी जानियो, मेरे बिना वह ऐसे रहती होगी जैसे चकवे के बिना अकेली चकई, और विरह से

इन कठिन दिनों में वह थोड़ी बोलनेवाली बहुत दुखी होगी, जैसे शीत की मारी कमलिनी।

श्लोक

(२६) शेषान् मासान् गमनदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीमुक्तपुष्पैः।
संयोगं वा हृदयनिहितारम्भमासादयंती
प्रायेणैते रमणविरहे ह्यङ्गनानां विनोदाः॥

सोरठा

कै मन करन प्रतीत रहे महीना अवधि के।
गिनि गिनि धरती मीत सुमन देहरी के चढ़े॥
कै साधति संजोग मम आगम अनुमान करि।
येही नारि नियोग होत नाह के विरह में॥

अर्थ

चाहे शाप की अवधि के रहे हुए महीने निश्चय करने के लिये धरती पर रख रखकर देहली के चढ़े हुए फूल गिनती हो (परदेशी की कुशल निमित्त महीने महीने देहली पर फूल चढ़ाए जाते हैं) चाहे अपने मन ही मन मुझे घर आया जान संयोग के उपचार करती हो, क्योंकि पति के वियोग में स्त्री बहुधा ये ही धंधे करती रहती हैं।

बस, बहुत कहने का कुछ प्रयोजन नहीं है। इतने ही उदाहरणों से पढ़नेवाले अच्छी तरह समझ लेंगे कि राजा लक्ष्मणसिंह में व्रजभाषा का ज्ञान, कविता और अनुवाद करने की कैसी अनूठी शक्ति थी। इन्होंने इतना माथा खपाकर ऐसे

रसीले (पद्य में) मेघदूत का उल्था किया है कि यह अनुवाद नहीं वरन् निज का किया हुआ सा जान पड़ता है।

इनके मेघदूत में जहाँ सब गुण भरे हैं वहाँ एक दोष भी है, कि कहीं कहीं किसी किसी छंद में यतिभंग की खटक दिखलाई पड़ती है। उदाहरण के लिये हम एक छंद नीचे लिख देते हैं—

शिखरिणी

तजी प्यारी हाला विमल निज बाला दृगन सी
हली बंधु स्नेही समर तजि सेई सुरसुती।
मिले जो तू वाही सुभग सरिता के जलन तें
करें अंतश्शुद्धी तुव वरणमात्र कृष्णहुँ की॥

बस, इसी भाँति कई छंदों में यतिभंग की खटक आती है। अब यदि ऐसे यतिभंग का दोष न माना जाय तो यह काव्य सब प्रकार से बिना दोष का है, और जो यह दोष मान भी लिया जाय तो भी कालिदास के इस वचन के अनुसार "गुण के समूह में एक दोष डूब जाता है जैसे चंद्रमा की किरणों में कलंक"* वह दोष की गिनती में नहीं है। धन्य लक्ष्मणसिंह! जब तक तुम्हारी कविता की एक चिट भी संसार में बची रहेगी, तब तक तुम बराबर नंदनवन में कालिदास के साथ विहार करते रहोगे, और यही (तुम्हारी कविता) तुम्हारी कीर्त्ति को अचल रखने के लिये कीर्त्तिस्तंभ की भाँति सिर ऊँचा किए सदा तुम्हारी उस सेवा के बदले में,

* एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।
(कुमारसंभवे)

जो कि तुमने बिना किसी स्वार्थ और घमंड के साधारण रीति से अपनी मातृभाषा (हिंदी) की की है, तुम्हारा यश स्वर्ग के देवताओं तक के कानों में पहुँचाया करेगी* ।

सन् १८६१ ई० में राजा साहब ने, जब कि ये इटावे में अव्वल दर्जे की डिपटी कलक्टरी का काम करते थे, हिंदी भाषा को, साधारण लोगों में फैलाने के लिये (हिंदी भाषा का) "प्रजाहित"† नाम का समाचार-पत्र निकाला था। किंतु खेद है कि अब इस पत्र का कुछ भी पता नहीं लगता ‡ ।

निदान राजा साहब ने इकतालीस वर्ष गवर्मेंट की ऐसी योग्यता से सेवा की, जिससे यहाँ से लेकर इँगलैंड तक के अँगरेज़ों की आँखों में आप अनमोल रत्न की भाँति जँच गए और उस पर आनंद यह कि जैसे आप अँगरेज़ों में आदर के अधिकारी हुए, वैसे ही अपने देश-वासियों के भी बड़े ही प्रीतिपात्र हुए।

---

* कीर्तिर्रक्षा संश्रद्धा स्थिरा भवति भूतले । (पञ्चतंत्र)

† हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास नामक पुस्तक में इस पत्र का कुछ भी उल्लेख नहीं है, वरन् एक दूसरे ही "प्रजाहितैषी" पत्र का नाम लिखा है जो कि "राजनादगाँव" से निकलता था।

‡ हिंदी में सबसे पहला पत्र सन् १८४५ ई० में राजा शिवप्रसाद की सहायता से "बनारस अख़बार" नामक निकला। दूसरा सन् १८५० ई० में काशी से "सुधाकर" पत्र निकला। और तीसरा पत्र सन् १८६१ ई० में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा "प्रजाहितैषी" नाम का निकला। फिर तो धीरे धीरे बहुत से पत्र हिंदी में निकले।

इकतालीस वर्ष की नौकरी में बीस वर्ष ये अव्वल दरजे के डिपटी कलक्टर रहे। इसी में कुछ दिन तक ये बुलंद-शहर के कलक्टर भी रहे। इस पद को भी इन्होंने ऐसी अच्छी रीति से निबाहा कि जिसके लिये पश्चिमोत्तर देश के छोटे लाट ने गवर्मेंट गज़ट में इनकी बड़ी प्रशंसा की थी।

सन् १८८८ ई० में इनकी पेंशन हुई। तब से मरने के समय तक ये आगरे की म्यूनिसिपलिटी के वाइस-चेयरमैन रहे। इसके अलावे कलकत्ता यूनिवर्सिटी के फ़ेलो, एशियाटिक सोसाइटी आदि देशी और इँगलैंड, जर्मन तथा अमेरिका की विद्या-संबंधी सोसाइटियों के मेंबर थे।

प्यारे पाठक! यहाँ एक बात हम कहें आप लोग ध्यान देंगे? देखिए राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद, ये दोनों ही प्रसिद्ध क्षत्रिय राजवंश के थे, इन दोनों ही ने आजन्म उत्तम रीति से प्रतिष्ठा के साथ अच्छे पद पर रहकर गवर्मेंट की सेवा की, दोनों ही अनेक भाषा के पंडित और अच्छे ग्रंथ-कार (विशेष कर हिंदी के) हुए, दोनों ही अपने अपने नगर के माननीय रईस और अच्छे चरित्र के थे और दोनों ही ने गवर्मेंट से 'राजा' की पदवी पाई पर क्या कारण है कि जैसे राजा लक्ष्मणसिंह देशी और विदेशी (अँगरेज़) दोनों ही दल में समान आदर के पात्र हुए, वैसे राजा शिवप्रसाद के भाग्य में न था। इसका क्या कारण है? यही कि राजा लक्ष्मणसिंह में सब अच्छे अच्छे गुणों में अपने देश और

जाति का प्रेम सबसे बढ़कर और प्रधान गुण था, और राजा शिवप्रसाद में और और गुणों के रहने पर भी इस गुण का अभाव था। बस, यही कारण है कि राजा लक्ष्मणसिंह का सा विश्वव्यापी यश राजा शिवप्रसाद नहीं पा सके। इनके दो सुयोग्य पुत्रों में से बड़े कुँवर कन्हईसिंहजी आनरेरी म्यजिस्ट्रेट तथा ज़िला और म्यूनिसिपलबोर्ड के मेंबर और आगरा कालेज के ट्रस्टी हैं। और छोटे कुँवर महेंद्रसिंहजी संयुक्त प्रांत में डिपटी कलक्टर हैं।

".....वास्तव में वर्तमान हिंदी-गद्य-लेख-प्रणाली सन् १८०० ई० में पंडित लल्लूलाल के प्रेमसागर से प्रचलित हुई। इसके अनंतर इस प्रणाली का कुछ कुछ प्रचार होता रहा, परंतु भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में यह परिष्कृत और प्रसाद-गुण-संपन्न हुई..."* इस ऐतिहासिक बात में किसी को भी विरोध नहीं है, पर थोड़ा सा विचारने और भाषा के धीरे धीरे पलटा खानेवाले प्राकृतिक नियम को ध्यान देकर देखने से यह बात भली भाँति प्रगट हो जायगी कि पंडित लल्लू-लालजी ने व्रजभाषा से किस प्रकार अपनी नई हिंदी (खड़ी बोली) को साँचे में ढाला, और फिर उसे राजा लक्ष्मणसिंह ने कहाँ तक काट छाँटकर सुधारा† और इसके पीछे भारतेंदु

* "हिंदी भाषा के लेख तथा लिपिप्रणाली-संबंधी प्रश्नों पर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की मीमांसा देखिए।"

† पहले प्रेमसागर को ध्यान देकर पढ़िए, फिर शकुंतला को देखिए, तब यह बात भली भाँति ध्यान में आ जायगी।

हरिश्चंद्र ने किस अनूठे ढँग से* इस (हिंदी) को सुंदरता की सबसे ऊँची गद्दी पर ला बैठाया।

यदि हिंदी के जन्मदाता लल्लूलाल और उनके पीछे उस (हिंदी) को अच्छे ढंग पर पहुँचानेवाले 'पथ-प्रदर्शक' राजा लक्ष्मणसिंह न होते तो कदाचित् भारतेंदु हरिश्चंद्र इतने बड़े विश्वव्यापी यश के अधिकारी नहीं होते, इस बात का निर्णय "परिवर्त्तनशील भाषा-तत्त्व" जाननेवाले आप कर सकते हैं; क्योंकि यह बात कुछ भारतेंदु हरिश्चंद्र ही के लिये नहीं कही गई है, वरन सनातन से ऐसा ही होता आया है और प्रलय तक योंही होता चला जायगा। देखिए, सोचिए और ध्यान दीजिए कि यदि वाल्मीकि और वेदव्यास न हुए होते तो कालिदास इतने बड़भागी नहीं होते। यद्यपि वाल्मीकि आदि कवि थे, पर 'कवि-कुलगुरु' की अचल पदवी कालिदास ही के भाग्य में थी†।

---

* हमने यहाँ पर राजा शिवप्रसाद का नाम इसलिए नहीं लिखा कि उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह के दिखलाए हुए सीधे मार्ग को छोड़कर एक नया टेढ़ा पथ पकड़ा था। यद्यपि उन्होंने इस (हिंदी) की बड़े गाढ़े समय में भरपूर सेवा की थी तो भी हम उन्हें उनकी (नई) हिंदी का अच्छा ग्रंथकार अवश्य कह सकते हैं, पर हिंदी के सुधारनेवालों मेंउन्हें नहीं गिन सकते।

† भारतेंदु हरिश्चंद्र इस बात को आप स्वीकार कर गए हैं और उन्होंने लिखा है कि "यदि प्राचीन कवियों की गणना की जाय तो कालिदास तीसरे ठहरते हैं, फिर इन (कालिदास) के अनंतर ऐसा कोई कवि नहीं हुआ, अतएव मध्यमा का साथ अनामिका ने लिया।"

देखिए, भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सन् १८६८ ई० में "कविवचनसुधा" मासिक रूप में निकाला और वही फिर थोड़े ही दिनों में पाक्षिक फिर साप्ताहिक हो गया। अब यदि सन् १८६८ ई० से लेकर सन् १८७२ तक, अर्थात् "हरिश्चंद्र-मेगज़ीन" के निकलने के पहले के "कविवचनसुधा" की लेख-प्रणाली को अच्छी तरह ध्यान देकर देखिएगा तो हमारी बात सच्ची जँचेगी, और उसमें आप देखिएगा, कि महामति हरिश्चंद्र कैसी अच्छी रीति से राजा लक्ष्मणसिंह के दिखलाए हुए हिंदी के पथ में उसे स्वच्छ अलंकृत करते हुए क्योंकर धीरे धीरे आगे बढ़े हैं। सन् १८६८ ई० से लेकर सन् १८७२ ई० तक, अर्थात् पाँच वर्ष में उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह के पथ को ऐसा नया कर डाला कि वह उन (हरिश्चंद्र) का निजकृत सा हो गया, और तभी उन्होंने जब कि "हरिश्चंद्र

यद्यपि यह चोज की बात है, पर सच भी है। इसे यों समझिए कि हाथ की अँगुलियों के ये नाम हैं, अर्थात् अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका; और सनातन से गणना अंगुष्ठ ही से प्रारंभ की जाती है तो अब अंगुष्ठ से गिनिएगा तो वाल्मीकि १, व्यास २, कालिदास ३, ये तीन गिनती मध्यमा अँगुली तक पहुँची, आगे कोई चौथा कवि हुआ ही नहीं; इसी लिये चौथी अँगुली का नाम विद्या ने पहले ही से अनामिका अर्थात् बिना नामवाली रखा है। यही कवि का चोज है। देखिए—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे सुमध्यमाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

मेगज़ीन" का जन्म (१८७३ में) हुआ, हिंदी का नवीन जन्म या पुनर्जन्म माना। वे अपने 'कालचक्र' नामक ग्रंथ में आप लिख गए हैं कि "हिंदी नए चाल में ढली" (हरिश्चंदी हिंदी, सन् १८७३ ई०) इस विषय में अधिक कहने का कुछ काम नहीं है, क्योंकि लोग परिवर्तनशील जगत् के प्राकृतिक नियमों के मर्म को भली भाँति जानते हैं, उनके समझने के लिये इतना ही बहुत है और फिर भारतेंदुजी के लिये इससे बढ़कर और कौन सी बड़ाई हो सकती है कि जैसे (वाल्मीकि और व्यास के पीछे) कालिदास के अतिरिक्त कोई उत्तम कवि आज तक न हुआ, वैसेही (लल्लूलाल और लक्ष्मणसिंह के पीछे) हरिश्चंद्र को छोड़कर आज तक कोई दूसरा हिंदी-लेखक उदाहरण के योग्य न हुआ। अस्तु जो कुछ हो, पर राजा लक्ष्मणसिंह कोई योगभ्रष्ट* पुरुष थे, जो अपनी अचल कीर्त्ति और अपना आदर्श चरित्र संसारी लोगों के उदाहरण के लिये छोड़कर आप देव-पदवी को पहुँच गए।

हिंदी के (दूसरे लल्लूलाल की अपेक्षा) पुराने सुलेखक व्रजभाषा के अच्छे कवि चंद्रवंशी क्षत्रिय-वंशावतंस, आगरे के माननीय धनी (रईस), उत्तम गुणों के निधान, आदर्श चरित्रवान् और पेंशनर, अव्वल डिप्टी कलक्टर श्रीमान् राजा लक्ष्मणसिंह अब इस असार संसार में नहीं हैं, केवल उनकी (अक्षर-

---

* "शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो हि जायते"।

(श्रीभगवद्गीता)

संबद्धा) कीर्ति बच रही है। मरने के समय इनकी अवस्था ६९ वर्ष और नौ मास की थी। सन् १८९६ ई० की १४ वीं जुलाई मंगलवार को दिन के दस बजे इस असार संसार को छोड़कर ये सुरपुर को सिधारे।

इन्होंने अपने अच्छे चाल-चलन और सुंदर चरित्र से सभों का मन मोह लिया था और सब कोई इनका सम्मान आदर करते थे। जितने अवगुण हैं उनमें से कोई भी इनमें न था। लोग यह कहा करते हैं कि "कवि के लिये विलास अवश्य चाहिए" इस बात को इन्होंने झूठा कर दिया, अर्थात् किसी खोटे विलास से इन्होंने अपने चरित्र में कलंक नहीं लगने दिया। मरने के समय तीन चार मास पहले से ये माँदे चले आते थे। अंत में श्रीगंगा-तट पर प्राण त्यागने के लिये अपने कुटुंब के साथ नवीं जुलाई को राजघाट पधारे। वहाँ पाँच दिन जीकर बड़े शांत भाव से भगवती जाह्नवी की गोद में अपने प्राण को त्यागकर अमर-पदवी को पहुँचे।

महात्माओं ने कहा है कि "मनुष्य का तन, अच्छे कुल में जन्म, संपत्ति, दीर्घायु, आरोग्यता, अच्छे मित्र, आज्ञाकारी पुत्र, पतिव्रता पत्नी, ईश्वर में भक्ति, पांडित्य, सौजन्य, इंद्रियों को वश में रखना, सत्पात्रों को दान, ये तेरह गुण बिना पूर्व जन्म के पुण्य के उदय हुए नहीं मिलते"* अब यदि विचार

---

* मानुष्यं वरवंशजन्मविभवो दीर्घायुरारोग्यता
सन्मित्रं सुसुतः सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे।

कर देखा जाय तो राजा साहब में ये सभी गुण भरपूर थे। विशेष कहने का प्रयोजन नहीं है। जो लोग विचारवान् हैं, वे इतने ही से उनके विमल चरित्र के चटकीले चित्र को विचार की दृष्टि से भली भाँति देख सकेंगे। देखिए, जो इस असार संसार में आया है वह एक दिन अवश्य जायगा, क्योंकि मरना सबको है, इस समदर्शी यम के हाथ से किसी का भी निस्तार नहीं है, पर राजा लक्ष्मणसिंह की सी मृत्यु की सभी चाहना करते हैं, क्योंकि उनकी मृत्यु में बड़े संतोष की बात यह हुई कि जैसे ये अपने धर्म* में पक्के थे, वैसे ही श्रीगंगा माता की गोद में इन्होंने मृत्यु भी पाई। आपके घर का सब काम काज अच्छी तरह से नियम के साथ चल रहा है, दो सुयोग्य और विद्वान् पुत्र हैं, लंबी चौड़ी अवस्था भोगकर (वृद्धावस्था में) विमल यश के साथ पुण्य-सलिला भागीरथी की गोद में इन्होंने मृत्यु पाई है, अब इससे बढ़कर धर्मात्मा हिंदू के लिये और क्या सौभाग्य हो सकता है ?

विद्वत्वं सुजनत्वमिंद्रियजयः सत्पात्रदाने रति-
स्ते पुण्येन विना त्रयोदश गुणाः संसारिणां दुर्ल्लभाः ॥
(सुभाषित)

* यद्यपि राजा साहब शैव थे, किंतु भाव सब देवताओं में आपका समान था और सनातनधर्म के आप कट्टर पक्षपाती थे।
(सरस्वती भाग १)

शकुंतला

अंक १

स्थान—बन

(दुष्यंत रथ पर चढ़ा धनुष बाण लिए हरिण को
खेदता सारथी सहित आया)

सारथी—(पहले हरिण की ओर फिर राजा की ओर देखकर) महाराज, जब मैं इस करसायल पर दृष्टि करता हूँ और फिर आपको धनुष चढ़ाए देखता हूँ तो साक्षात् ऐसा ध्यान बँधता है मानों पिनाक संधान किए शिवजी शूकर के पीछे जाते हैं।

दुष्यंत—इस मृग ने हमको बहुत थकाया है। देखो कभी सिर झुकाए रथ को फिर फिर देखता चौकड़ी भरता है, कभी तीर लगने के डर से सिमटता है। अब देखो हाँफता हुआ अधखुले मुख से घास खाने को ठिठका है। फिर देखो कैसी छलाँग भरी है कि धरती से ऊपर ही दिखाई देता है। देखो अब इतने वेग से जाता है कि दिखाई भी सहज नहीं पड़ता।

सारथी—महाराज, अब तक धरती ऊँची नीची थी इससे मैंने घोड़े रोक रोककर चलाए थे और इसी से वह कुरंग दूर निकल गया है। परंतु अब भूमि एक सी आई, दो ही सरपट में ले लेंगे।

दुष्यंत—अब घोड़ों की रास छोड़ो।

सारथी—जो आज्ञा। (पहले रथ को भरदौड़ चलाया फिर मंदा किया) देखिए रास छोड़ते ही घोड़े सिमटकर कैसे झपटे कि टापों की धूल भी साथ न लगी। केश खड़े करके और कनौती उठाकर घोड़े दौड़े क्या हैं उड़ आए हैं।

दुष्यंत—सत्य है ऐसे झपटे कि छिनभर में हरिण से आगे बढ़ आए। जो वस्तु पहले दूर होने के कारण छोटी दिखाई देती थी सो अब बड़ी जान पड़ती है, और जो मिली हुई सी थी सो अलग अलग निकली, जो टेढ़ी थी सो सीधी हो गई। पहियों के वेग से थोड़े काल तक तो दूर और नगोच में कुछ अंतर ही न रहा था। अब देखो हम इसे गिराते हैं। (धनुष पर बाण चढ़ाता हुआ)

(नेपथ्य में) इसे मत मारो यह आश्रम का मृग है।

सारथी—(शब्द सुनता और देखता हुआ) महाराज, बाण के संमुख हरिण तो आया परंतु ये दो तपस्वी नाहीं करते हैं कि इसे मारो मत।

दुष्यंत—अच्छा तो घोड़ों को रोको।

सारथी—जो आज्ञा। (रास खैंचता हुआ)

(एक तपस्वी और उसका चेला आया)

तपस्वी—(बाँह उठाकर) हे राजा, यह मृग आश्रम का है, इसको मत मारो। देखो, इसको मत मारो। इसके कोमल शरीर में जो बाण लगेगा सो मानों रुई के पुंज में आग लगेगी। कहाँ तुम्हारे वज्रबाण कहाँ इसके अल्पप्राण! हे राजा, बाण को उतार लो, यह तो दुखियों की रक्षा के निमित्त है, निरपराधियों पर चलाने को नहीं है।

दुष्यंत—(नमस्कार करके) लो मैं तीर को उतारे लेता हूँ। (बाण उतार लिया)

तपस्वी—(हर्ष से) हे पुरुकुलदीपक, आपको यही उचित है। लो हम भी आशीर्वाद देते हैं कि आपके आपही सा चक्रवर्ती और धर्मात्मा पुत्र हो।

चेला—(दोनों हाथ उठाकर) आपका पुत्र धर्मज्ञ और चक्रवर्ती हो।

दुष्यंत—(प्रणाम करके) ब्राह्मणों का बचन सिर माथे।

तपस्वी—हे राजा, हम यज्ञ के लिये समिध लेने जाते हैं। आगे मालिनी के तट पर गुरु कण्व का आश्रम दिखाई देता है। आपको अवकाश हो तो वहाँ चलकर अतिथि-सत्कार लीजिए। उस जगह तपस्वियों के धर्म-कार्य निर्विघ्न होते देखकर आप भी जानेंगे कि मेरी इस भुजा से जिसमें प्रत्यंचा की फटकार के चिह्न भूषण हैं कितने सत्पुरुषों की रक्षा होती है।

दुष्यंत—तुम्हारे गुरु आश्रम में हैं या नहीं।

तपस्वी—अपनी पुत्री शकुंतला को अतिथि-सत्कार की आज्ञा देकर उसी की ग्रहदशा निवारने के लिये सोमतीर्थ को गए हैं।

दुष्यंत—अच्छा हम अभी आश्रम के दर्शन को चलते हैं। उस कन्या को भी देखेंगे और वह हमारा भक्तिभाव महर्षि से कहेगी।

तपस्वी—आप सिधारिए हम भी अपने कार्य को जाते हैं।

(तपस्वी अपने चेले समेत गया)

दुष्यंत—सारथी, रथ को हाँको। इस पवित्र आश्रम के दर्शन करके हम अपना जन्म सफल करें।

सारथी—जो आज्ञा। (रथ बढ़ाया)

दुष्यंत—(चारों ओर देखकर) कदाचित् किसी ने बतलाया न होता तो भी यहाँ हम जान लेते कि अब तपोवन समीप है।

सारथी—महाराज, ऐसे आपने क्या चिह्न देखे।

दुष्यंत—क्या तुमको चिह्न नहीं दिखाई देते हैं। देखो वृक्षों के नीचे तोतों के मुख से गिरा मुन्यन्न पड़ा है। ठौर ठौर हिंगोट कूटने की चिकनी शिला रक्खी हैं। मनुष्यों से हरिण के बच्चे ऐसे हिल रहे हैं कि हमारी आहट पाकर कुछ भी नहीं चौंके, जैसे अपने खेल कूद में मगन थे वैसे ही बने हैं। उधर देखो यज्ञ की सामग्री के छिलके बह बहकर आते हैं तिनसे नदी में कैसी लकीर सी बँध रही है। फिर देखो

वृक्षों की जड़ पवित्र बरहों के प्रवाह से धुलकर कैसी चमकती है और होम के धुएँ से नए पत्तों की कांति कैसी धुँधली हो रही है। देखो उस उपवन के आगे की भूमि में जहाँ की दाभ यज्ञ के लिये कट गई है, मृगछौने कैसे धीरे धीरे निधड़क चरते हैं।

सारथी—महाराज, अब मैंने भी तपोवन के चिह्न देखे।

दुष्यंत—(थोड़ी दूर चलकर) सारथी, तपोवनवासियों के काम में कुछ विघ्न न पड़े इससे रथ को यहाँ ठहरा दो, हम उतर लें।

सारथी—मैं रास खैंचता हूँ, महाराज उतर लें।

दुष्यंत—(उतरकर और अपने वेष को देखकर) तपस्वियों के आश्रम में नम्रता से जाना कहा है इसलिये लो तुम मेरे राजचिह्नों और धनुष-बाण को लिए रहो (सारथी ने ले लिए) और जब तक मैं तपोवन वासियों के दर्शन करके फिर आऊँ तब तक तुम घोड़ों की पीठ ठंढी कर लो।

सारथी—जो आज्ञा। (बाहर गया)

दुष्यंत—(चारों ओर फिरकर और देखकर) अब मैं आश्रम में जाता हूँ। (आश्रम में धँसा) आज दक्षिण भुजा क्यों फड़कती है। (ठहरकर और कुछ सोचकर) यह तो तपोवन है यहाँ इस अच्छे सगुन का क्या फल होना है। कुछ आश्चर्य भी नहीं है, होनहार कहीं नहीं रुकती।

(नेपथ्य में) प्यारी सखियो, यहाँ आओ, यहाँ आओ।

दुष्यंत—(कान लगाकर) इस फुलवारी के दक्षिण ओर क्या कुछ स्त्रियों का सा बोल सुनाई देता है (चारों ओर फिरकर और देखकर) अहा! ये तो तपस्वियों की कन्या हैं। अपने अपने वित्त अनुसार कोई छोटी कोई बड़ी गगरी वृक्ष सींचने को लिए जाती हैं। धन्य है! कैसी मनोहर इनकी चितवन है। जैसे इन वनयुवतियों की छवि रनवास की स्त्रियों में मिलनी दुर्लभ है वैसे ही उपवन के फूलों को इस वन की लता अपने रंग और सुगंधि से लज्जित कर रही है। (खड़ा होकर उनकी ओर देखने लगा)

(शकुंतला, अनसूया और प्रियंवदा आईं)

शकुंतला—सखियो, यहाँ आओ।

अनसूया—हे सखी शकुंतला, पिता कण्व को ये बिरुवे तुझसे भी अधिक प्यारे होंगे, नहीं तो तुझ सुकुमारी को इनके सींचने की आज्ञा न दे जाते, तेरे चमेली से अंग पर दया लाते।

शकुंतला—सखी, निरी पिता की आज्ञा ही नहीं है, मेरा भी इन वृक्षों में सहोदर का सा स्नेह हो गया है।

(पेड़ को पानी दिया)

प्रियंवदा—सखी शकुंतला, जिन पौधों को तू सींच चुकी है सो तो इसी ग्रीष्म ऋतु में फूलेंगे। अब चल उनको भी सींचे जिनके फूलने के दिन निकल गए हैं क्योंकि उनके सींचने से अधिक पुण्य होगा।

शकुंतला—ठीक है। (और वृक्षों को सींचती हुई)

दुष्यंत—(चकित होकर आप ही आप) कण्व की बेटी शकुंतला यही है। उस ऋषि का हृदय बड़ा कठोर होगा जिसने ऐसी सुकुमारी को ऐसा कठिन काम सौंपा है और वृक्षों की छाल के वस्त्र पहराए हैं। इस सुंदरी को जिसके देखते ही मन हाथ से निकला जाता है तपस्विनी बनाना ऐसा है जैसे नील कमल की पखुरी से सूखा छोंकर काटना। बकले की कंचुकी इसको शोभा नहीं देती है जैसे नए फूल को पुराने पत्ते से ढाँकना मेल नहीं खाता। नहीं, नहीं, बकले का वस्त्र इस मोहनी के गात को शोभा देता ही है। यह मैंने भूलकर कहा कि नहीं देता है, क्योंकि कमल के फूल पर काई भी अच्छी लगती है और पूर्ण चंद्र में कालो रेखा भी खुलती है। ऐसे हो इस पद्मिनी का अंग बकले पहरने से भी मनोहर दिखाई देता है। सत्य है, रूपवती को सभी सोहता है।

शकुंतला— (आगे देखकर) सखियो, देखो पवन के झोकों से आल के पत्ते कैसे हिलते हैं मानों वह हमको उँगलियों से अपने निकट बुलाता है, चलो वहीं चलें।

(सब वृक्षों के निकट गईं)

प्रियंवदा—सखी, यहाँ घड़ीक विश्राम ले लें।

शकुंतला—क्यों।

प्रियंवदा—इसलिए कि जब तक तू इस आम के नीचे खड़ी है यह ऐसा शोभायमान हो रहा है कि मानों इससे लता लिपट रही है।

शकुंतला—सखी, इसी से तेरा नाम प्रियंवदा हुआ है कि तू बात बहुत प्यारी कहती है।

दुष्यंत—(आप ही आप) प्रियंवदा ने बात प्यारी तो कही, परंतु सत्य भी कही, क्योंकि शकुंतला के अधर हैं सोई लता के नवीन पल्लव हैं, भुजा हैं सोई बेलि हैं और नव यौवन है सोई विकसित फूल हैं।

(शकुंतला ने पानी का घड़ा झुका दिया)

अनसूया—सखी शकुंतला, इस लता को क्यों छोड़े जाती है जिसने पिता कण्व के आश्रम में तेरी ही भाँति रक्षा पाई है।

शकुंतला—तब तो किसी दिन कहीं मैं आप अपने को न भूल जाऊँ। (लता के निकट गई) सखी प्रियंवदा, मैं तुम्हें कुछ भले समाचार सुनाऊँगी।

प्रियंवदा—क्या समाचार हैं, सखी।

शकुंतला—देखो यह माधवी लता यद्यपि इसके फूलने के दिन अभी नहीं आए हैं, कैसी जड़ से चोटी तक कलियों से लद रही है। (दोनों तुरंत लता के निकट गईं)

प्रियंवदा—सच्ची कह।

शकुंतला—मैं सच्ची क्या कहूँ तू ही देख ले।

प्रियंवदा—(बड़े चाव से) हे शकुंतला, इस सगुन के भरोसे पर मैं कहे देती हूँ कि तुझे अच्छा वर मिलेगा और वह थोड़े ही दिनों में तेरा हाथ गहेगा।

शकुंतला—(रिस सी होकर) आज तुझे क्या सूझी है।

प्रियंवदा—सखी यह बात मैंने हँसी से नहीं कही। हमने पिता कण्व के मुख से भी कुछ ऐसी ही सुनी है और इसी से तेरा सींचना इस लता को सुफल हुआ है।

अनसूया—और इसी से इस लता को तैंने बड़े चाव से सींचा है।

शकुंतला—माधवी लता तो मेरी बहिन है इसे क्यों न सींचती। (पानी का घड़ा झुका दिया)

दुष्यंत—(आप ही आप) निश्चय यह ऋषि की बेटी सजातीय स्त्री से तो नहीं है। पर यह संदेह वृथा है क्योंकि इस पर जो मेरा चित्त ऐसा लगा है तो अवश्य यह क्षत्री के ब्याहने योग्य होगी, क्योंकि सज्जनों के हृदय में जो कभी कुछ संभ्रम उपजता है तुरंत ही वह अंतःकरण की भावना से मिट जाता है। मेरा मन इसके वश हुआ इसलिये निश्चय यह ब्राह्मण की बेटी नहीं है जो मेरे ब्याहने योग्य न हो। भला हो सो हो, इसका सत्य वृत्तांत तो खोजना चाहिए।

शकुंतला—(मुख फेरकर) दई दई यह ढीठ भौंरा नई चमेली को छोड़ मेरे ही मुख पर बार बार गूँजता है। (घबराती सी)

दुष्यंत—(आप ही आप) कितनी बेर हमने नगर की स्त्रियों को उड़ते भौंरे से कटाक्ष करके मुख मोड़ते देखा है परंतु सदा बनावटही पाई। इस भोरी के भौंह मरोड़ने और आँखें तिरछी करने में कैसा सीधापन है। हे भौंरे, तू बड़ा बड़भागी है कि

इन चंचल नेत्रों की कोर को स्पर्श करता है और कानों के निकट ऐसा जाता है मानों कुछ रहस्य का सँदेसा सुनावेगा। जब तक वह हाथ उठाती है तू अमृत भरे होठों से रस ले जाता है।

शकुंतला—यह ढीठ भौंरा न मानेगा। अब यहाँ से अंत चलूँ। (दूसरी ओर गई) अरी देखो यहाँ भी पापी ने पीछा न छोड़ा। हे सखियो, भौंरा मुझे सताता है, इससे छुटाओ।

प्रियंवदा—(मुसक्याकर) हम छुड़ानेवाली कौन हैं। राजा दुष्यंत छुड़ावेगा जो सब तपोवन का रखवाला है।

दुष्यंत—(आप ही आप) यह अवसर प्रगट होने का अच्छा है। (थोड़ा सा आगे चलकर—प्रगट) डरो मत डरो मत—(इतना कह, फिर हट गया—आप ही आप) परंतु इससे तो खुल जायगा कि मैं राजा हूँ। अब जो हो सो हो साधारण परदेशी बनकर इनसे अतिथि-सत्कार माँगूँ क्योंकि इनसे कुछ बातचीत तो अवश्य करनी चाहिए।

शकुंतला—यहाँ भी भौंरे ने पीछा न छोड़ा, अब कहाँ जाऊँ (एक ओर को चलती हुई और जिधर भौंरा जाता है उधर देखती हुई) अरे दूर हो। हे सखियो मैं जहाँ जाती हूँ यह मेरे पीछे ही पीछे लगा फिरता है, इससे मुझे बचाओ।

दुष्यंत—(झटपट आगे बढ़कर) जब तक दुष्टों को दंड देनेवाला पुरुवंशी पृथ्वी का रखवाला बना है तब तक कौन ऐसा है जो इन ऋषिकन्याओं को सताता है।

(तीनों चकित होकर देखने लगीं)

अनसूया—अजी, यहाँ सतानेवाला मनुष्य तो कोई नहीं है हमारी सखी को एक भौंरे ने घेरा था, इससे यह भय खा गई है। (दोनों सखी शकुंतला को देखती हुईं)

दुष्यंत—(शकुंतला के निकट जाकर) हे सुंदरी तेरा तपोव्रत तो सफल है। (शकुंतला लज्जित हो धरती की ओर देख चुप रह गई)

अनसूया—तुम सरीखे पाहुने आए तो अब तपोव्रत क्यों न सफल होगा।

प्रियंवदा—आओ परदेशी। सखी शकुंतला तू जा कुटी में से कुछ फल फूल भेंट को ले आ, पाँव धोने को जल नदी में से ले लेंगी। (पेड़ सींचने के घड़े की ओर देखती हुई)

दुष्यंत—तुम्हारे मीठे बोलों ही से कलेजा ठंढा हो गया।

अनसूया—आओ पाहुने घड़ीक इस कदलीपत्र के आसन पै बिराजो। यहाँ छाया शीतल है और आप परिश्रम करके आए हो, यहाँ विश्राम लो।

दुष्यंत—तुम भी तो थक गई होगी। आओ छिन भर बैठ लो।

अनसूया—(हौले शकुंतला से) अतिथि का सम्मान करना उचित है, आओ हम भी बैठें। (सब बैठ गईं)

शकुंतला—(आप ही आप) इस पाहुने को देखकर मेरे मन में ऐसी बात उपजती है जो तपोवन के योग्य नहीं है ;

दुष्यंत—(एक एक करके सबको देखता हुआ) हे युवतियो, जैसी विधाता ने तुमको वैस और निकाई दी है प्रीति भी तुम्हारे आपस में अच्छी रक्खी है।

प्रियंवदा—(हौले अनसूया से) सखी अनसूया, यह नया अतिथि कहाँ से आया है जिसके अंग में सुकुमारता के संग गुरुता और बोली में मधुरता के साथ गंभीरता है। ये लच्छन तो बड़े प्रतापियों के हैं।

अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी, मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। मेरे मन में आती है कि इससे कुछ पूछूँ। (प्रगट) तुम्हारे मधुर वचन सुनकर मुझे भासती है कि तुम कोई राज-कुमार हो, सो कहो कौन से राजवंश के भूषण हो और कहाँ की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो, क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को इस कठिन तपो-वन में पीड़ित किया है।

शकुंतला—(आप ही आप) अरे मन तू आतुर मत हो, धीरज धर, तेरे ही हित की बात अनसूया कह रही है।

दुष्यंत—(आप ही आप) अब मैं क्योंकर प्रगट होऊँ और कैसे छिपा रहूँ। हो सो हो, इनसे बात तो करूँहीगा। (प्रगट अनसूया से) हे ऋषिकुमारी, मैं पुरुवंशी राजा के नगर में निवास करता हूँ और पुरुवंशियों ने मुझे राज्य के धर्मकार्य सौंप रक्खे हैं, इसलिये आश्रम के दर्शन को आया हूँ।

अनसूया—महात्मा, तुम्हारे पधारने से इस बन के धर्म-चारी भी सनाथ हुए।

(शकुंतला कुछ लजित और मोहित सी हो गई और दोनों सखी कभी उसकी ओर और कभी राजा की ओर देखने लगीं)

अनसूया—(हौले शकुंतला से) कदाचित् आज कण्व घर होते।

शकुंतला—तो क्या होता।

अनसूया—इस पाहुने का आदर अनेक भाँति करते।

शकुंतला—(रिस सी होकर) चल परे हो, तेरे मन में कुछ और ही है, जा मैं तेरी न सुनूँगी। (अलग जा बैठी)

दुष्यंत—(अनसूया और प्रियंवदा से) हे युवतियो, अब मैं भी तुम्हारी सखी का वृत्तांत पूछता हूँ।

दोनों—यह आपका अनुग्रह है।

दुष्यंत—कण्व ऋषि तो ब्रह्मचारी हैं, फिर यह तुम्हारी सखी उनकी बेटी क्योंकर हुई।

अनसूया—महाराज सुनो। कुशिक के वंश में एक बड़ा प्रतापी राजर्षि है।

दुष्यंत—हाँ मैंने जान लिया, तुम विश्वामित्र का नाम लोगी। मैंने भी सुना है।

अनसूया—उसी से हमारी इस सखी की उत्पत्ति है और कण्व इसके पिता ऐसे कहाते हैं कि जब इसका नाल भी नहीं

कटा था तब उनको यह बन में पड़ी मिली थी और उन्हीं ने पाली पोसी है।

दुष्यंत—पड़ी मिली थी यह बात सुनकर तो मुझे आश्चर्य होता है, अब इसकी जड़ से उत्पत्ति कहो।

अनसूया—अच्छा सुनो, मैं कहती हूँ। उस राजर्षि ने उग्र तप किया तब देवताओं ने शंका मान उसका तप डगाने के निमित्त मेनका नाम अप्सरा भेजी।

दुष्यंत—सच है देवता ऐसे ही हैं। औरों की तपस्या से डर जाते हैं। भला फिर क्या हुआ।

अनसूया—वसंत ऋतु में मेनका की मोहनी छवि निरखते ही—(इतना कह लज्जित हो गई)

दुष्यंत—आगे हमने जान लिया कि शकुंतला क्षत्री की बेटी अप्सरा से है।

अनसूया—हाँ।

दुष्यंत—(आप ही आप) अब दैव ने किया तो मनोरथ पूरा हुआ। (प्रगट) क्यों न हो इसी से इसका ऐसा रूप है, नहीं तो मनुष्य जाति की स्त्रियों में इतनी दमक कहाँ पाइए।

(शकुंतला लाज से सिर झुकाकर बैठ गई)

दुष्यंत—(आप ही आप) मेरी मनोकामना सिद्ध होने के लच्छन तो दिखाई देते हैं, परंतु द्विविधा यही है कि सखी ने ब्याह की बात कहीं हँसी से न कही हो।

प्रियंवदा—(हँसकर पहले शकुंतला की ओर फिर राजा की ओर देखती हुई) क्या आपके मन में कुछ कहने की है। (शकुंतला उँगली से बर्जती हुई)

दुष्यंत—हाँ मेरे मन में इस अनूठे चरित सुनने की अभी और अभिलाषा है।

प्रियंवदा—सोच विचार मत करो, तपस्वियों से तो जो कोई चाहे निधड़क पूछ सकता है।

दुष्यंत—मैं यह पूछता हूँ कि शृंगार रस के बैरी इस वानप्रस्थ नियम में तुम्हारी सखी ब्याह ही तक रहेगी या सदा अपनी सी आँखोंवाली हरिणियों के संग खेलेगी।

प्रियंवदा—हे महात्मा, हमारी सखी परबस है और इसके बड़ों का यह संकल्प है कि इसी के समान वर मिले तो दें।

दुष्यंत—समान वर मिलना तो बहुत कठिन है। (आप ही आप) अरे मन अब तू इसके मिलने की चाह कर, तेरे संदेह का निवारण हो गया। जिसको तूने जलती आग समझा था सो तो गले का हार बनाने योग्य रत्न निकला।

शकुंतला—(रिस सी होकर) अनसूया, तू मुझे यहाँ ठहरने न देगी, ले, मैं जाती हूँ।

अनसूया—क्यों काहे को जाती है।

शकुंतला—मैं गौतमी से जाकर कहूँगी कि अनसूया मुझे छेड़ती है। (यह कहकर उठी)

अनसूया—हे सखी, यह उचित नहीं है कि तू ऐसे पाहुने को बिना सत्कार किए छोड़कर चली जाय। (शकुंतला ने कुछ उत्तर न दिया, चल खड़ी हुई)

दुष्यंत—(ऐसे उठा मानों रोकेगा परंतु आप ही रुक गया, फिर आप ही आप कहने लगा) अहा ! कामी मनुष्यों की कैसी मति भंग हो जाती है। देखो मैंने तपस्वी की कन्या को चलने से रोकना चाहा और आसन से खड़ा भी हो गया कदाचित् धर्म न सम्हालता तो कैसा होता।

प्रियंवदा—(शकुंतला के निकट जाकर) सखी यहाँ से जाने न पावेगी।

शकुंतला—(पीछे हटकर और भौंहें चढ़ाकर) क्यों न जाने पाऊँगी, मुझे कौन रोकनेवाला है।

प्रियंवदा—सखी अपना वचन निबाहे तो अभी तुझे दो रूख सींचने को और रहे हैं। इस ऋण को चुका दे तब चली जाना। (बलकर रोकती हुई)

दुष्यंत—वृक्ष सींचने का घड़ा उठाते उठाते तुम्हारी सखी थक गई है। देखो इसकी बाहें शिथिल हो गई हैं, लाल हथेली अधिक लाल पड़ गई है, छाती धुकधुकाती है, मुख पर पसीने के बिंदु मोती से ढरक रहे हैं, चुटीला ढीला होकर कपोलों पर अलकें बिखरती हैं, इनको एक हाथ से थाम रही है, यह ऋण मुझे यों चुकाने दो। (अँगूठी प्रियंवदा को दी और दोनों सखी सुँदरी पर दुष्यंत का नाम खुदा देखकर एक दूसरी

की ओर चकित सी निहारने लगीं) इसके लेने से तुम यह संकोच मत करो कि यह राजा की वस्तु है क्योंकि मैं भी तो राजपुरुष हूँ, मुझे यह राजा से मिली है।

प्रियंवदा—जो ऐसी है तो इसे अपनी उँगली से न्यारी मत करो। तुम्हारे कहने ही से ऋण चुक गया! (मुसक्याकर अँगूठी फेर दी)

अनसूया—हे सखी शकुंतला, इस महात्मा ने दया करके तुझे ऋण से छुड़ा दिया, अब चाहे तू चली जा।

शकुंतला—(आप ही आप) जो मैं अपने बस में रही तो क्या इन बातों को भूल जाऊँगी। (प्रगट) जाने की आज्ञा देनेवाली अथवा रोकनेवाली तुम कौन हो।

दुष्यंत—(शकुंतला की ओर देखकर आप ही आप) जैसा मेरा मन इस पद्मिनी से उलझा है वैसा ही इसका भी मुझसे अटका दिखाई देता है। यही मनोरथ पूरा होने के उत्साह का कारण है। यद्यपि यह मेरी बात में बात नहीं मिलाती है तो भी जब मैं कुछ कहता हूँ बड़े चाव से कान लगाकर सुनती है। मेरी ओर निधड़क खड़ी नहीं होती तो भी उसकी दृष्टि दूसरी ओर नहीं जाती है।

(नेपथ्य में) तपस्वियो, आश्रम के जीवों की रक्षा करो। राजा दुष्यंत आखेट करता निकट आ पहुँचा है। देखो घोड़ों की टाप से धूल उड़ उड़कर तुम्हारे भीगे वस्त्रों पर जो वृक्षों के ऊपर सूख रहे हैं टीड़ी के समान गिरती है। हे तपस्वियो,

यह हाथी हमारी तपस्या के विघ्न की मूर्ति होकर तपोवन में चला आता है। देखो वृक्ष के गुद्दों को दांतों से तोड़ता और पैरों में लता का लंगर डाले घूमता आता है। देखो हमारे तप में इसने कैसा विघ्न डाला है। हाथी के भय से हरिणों का झुंड तितर बितर हो गया है। और यह रथ को देख डर गया है इससे वन का नाश किए डालता है।

(ऋषिकुमारियों ने कान लगाकर सुना फिर चौंक पड़ीं)

दुष्यंत—(आप ही आप) अरे इन पुरवासियों ने मुझे ढूँढ़ते ढूँढ़ते यहाँ आकर वन में विघ्न डाला। अब इनके पास जाना पड़ा।

प्रियंवदा—हे आर्य, अब तो हमको इस मतवाले हाथी से डर लगता है। आज्ञा दो तो अपनी कुटी को जायँ।

अनसूया—सखी शकुंतला तेरे लिये गौतमी अकुलाती होगी। आ बेग बेग चली आ जिससे सब एक संग क्षेम कुशल से कुटी में पहुँचें।

शकुंतला—(हौले चलती हुई) आली मेरी तो पसली में पीर होती है मुझसे नहीं चला जाता।

दुष्यंत—हे युवतियो, तुम डरो मत, निधड़क चली आओ। मैं इस आश्रम में कुछ विघ्न न होने दूँगा। (सब उठ खड़ी हुईं)

दोनों—हे महात्मा, जैसा तुम सरीखे पुरुषों का सत्कार होना चाहिए सो हमसे नहीं बना है इसलिये हम यह कहते लजाती हैं कि कभी फिर भी दर्शन देना।

दुष्यंत—ऐसा मत कहो, तुम्हारे देखने ही से हमारा सत्कार हो गया।

शकुंतला—हे अनसूया, एक तो मेरे पाँव में दाभ की पैनी अनी लगी है दूसरे कुरे की डार में अंचल उलझा है। नेक ठहरो तो इसे सुलझा लूँ।

(दुष्यंत की ओर देखती और ठिठकती हुई चली)

दुष्यंत—(आह भरकर) हाय ये तो सब गईं, अब मैं कहाँ जाऊँ। हे दैव, प्यारी शकुंतला से कुछ काल और भेट क्यों न रही। अब मुझसे नगर की ओर तो चला नहीं जाता है इससे साथवालों को बिदा करके कहीं बन के नगीच ही डेरा करूँगा। शकुंतला के हाव भाव देखने की लालसा मेरे हृदय से कैसे जायगी। शरीर तो आगे को चलता भी है परंतु मन पीछे ही रहा जाता है जैसे पवन के संमुख चलती पताका पीछे ही को उड़ती है।

(बाहर गया)

अंक २

स्थान—बन के निकट चौगान में राजा के डेरे

(स्वाँस लेता हुआ और विषाद करता हुआ माढव्य आया)

माढव्य—इस मृगयाशील राजा की मित्रता से हम तो बड़े दुखी हैं। मन में ऐसी आती है कि सब छोड़ छाड़ बैठ रहिए। यहाँ तो ग्रीष्म की दुपहरी में भी यह मृग आया, वह बराह गया, उधर शार्दूल जाता है, यहो कहते इस बन से उसमें, उससे इसमें, पशुओं की भाँति भागना रहता है। कहीं छाया भी इतनी नहीं मिलती जहाँ कुछ विश्राम लिया जाय। पहाड़ की नदी में वृक्षों के पत्ते गिर गिरकर सड़ गए हैं। प्यास लगे तो उन्हीं का पानी पीना पड़ता है और खाने को शूल पर भूना मांस मिलता है। सो भी कुसमय। घोड़े के पीछे दौड़ते दौड़ते देह ढीली हो जाती है और रात को नींद भर सोना नहीं मिलता। फिर बड़े भोर हा दासी जाये मांस हो मांस पुकारते हैं और चलो बन को, चलो बन को, यह चिल्ला चिल्लाकर कान फोड़ते हैं। ये दुःख तो थे ही, तब तक एक नया घाव और हुआ कि हमसे बिछुड़कर राजा मृग के पीछे चलते चलते तपस्वियों के आश्रम में पहुँचा। वहाँ मेरे

अभाग्य से उसकी दृष्टि एक तपस्वी की कन्या पर जिसका नाम शकुंतला है पड़ गई। अब नगर का लौटना कैसा! इन्हीं क्लेशों के सोच विचार में सब रात मेरी आँख नहीं लगी। जब तक राजा को देख न लूँगा तब तक न जानूँगा क्या गति मेरी होगी। अब कब ऐसा होगा कि यहाँ से लौटकर फिर राजा को सिंहासन पर बैठा देखूँ। (आगे को चला और देखा) अहह वह भेष बदले आता है। हाथ में धनुष बाण तो है परंतु सिर पर मुकुट की ठौर बन के फूलों की माला धरी है। आता तो इधर ही को है। अब मैं भी अंग भंग करके खड़ा हो जाऊँ। (लाठी टेककर खड़ा हुआ) चलो योंही विश्राम सही।

(ऊपर कहे हुए भेष से दुष्यंत आया)

दुष्यंत—(ऊँची स्वाँस लेकर आप ही आप)क्या कीजै, प्यारी का मिलना तो सहज नहीं है और मन मिलने को ऐसा तड़पता है। यद्यपि अभी हमारी परस्पर प्रीति का फल नहीं मिला है परंतु दोनों के जी में मिलने की चाह लगी है। (मुसक्याकर) जब किसी की किसी से लगती है तो यही सूझती है कि उसकी भी मुझसे लगी होगी, उसने चाहे अपनी सखियों की ओर ही देखा हो, परंतु मैंने यही जाना कि मुझी पर सनेह की दृष्टि की है। फिर जब उसको सखियों ने अनखाया तब वह चाहे रिस ही हुई हो, परंतु मेरे मन में यह भ्यासी कि यह भी कुछ कटाच्छ मुझी पर है। सत्य है, अपने प्रयोजन की बात देखने में प्रेमी जनों की दृष्टि बड़ी पैनी होती है।

माढव्य—(जैसे खड़ा था वैसे ही खड़ा रहा) हे मित्र मेरे हाथ पाँव नहीं चलते हैं इसलिये केवल वचन ही से तुमको आशीर्वाद देता हूँ। आपकी जय रहे।

दुष्यंत—(उसकी ओर देखकर और मुसक्याकर) कहो सखा, तुम्हारा अंग भंग क्यों हुआ।

माढव्य—अपनी उँगली से आँख कुचोकर आपही पूछते हो कि आँसू क्यों आए।

दुष्यंत—हम समझे नहीं तुमने क्या कहा।

माढव्य—देखो वह बेत का वृक्ष नीचे को झुक गया है, सो कहो अपने आप झुका है या नदी के प्रवाह से।

दुष्यंत—नदी के प्रवाह से झुका होगा।

माढव्य—ऐसे ही मेरे अंग भंग होने के तुम्हीं कारण होगे।

दुष्यंत—क्योंकर।

माढव्य—मैं पूछता हूँ कि यह बात तुमको कब योग्य है कि ऐसे राजकाजों को भूल और ऐसे रनवास को त्याग यहाँ बन में बसो और बनवासियों के से काम करो। नित्य कुत्तों और मृगों के पीछे दौड़ते दौड़ते मेरा तो अंग शिथिल हो गया है। अब कृपा करके एक दिन विश्राम लेने दो।

दुष्यंत—(आप ही आप) इधर यह भी कहता है उधर मेरा चित्त भी ऋषिकुमारी की सुधि में आखेट से निरुत्साहित हो रहा है। अब मैं इस धनुष को प्यारी की सहवासिनी हरि-

स्त्रियों पर जिनकी आँखों ने उसे भोली चितवन सिखाई है कैसे चलाऊँगा।

माढव्य—(राजा के मुख की ओर देखकर) तुम्हारे मन में न जाने क्या सोच है। मेरी बात तो ऐसी हो गई जैसे बन में रोना।

दुष्यंत—(हँसकर) मेरे मन में यही है कि तुम्हें सखा की बात मानूँ।

माढव्य—(प्रसन्न होकर) बड़ो आर्बल हो। (उठ खड़ा हुआ, दुर्बलता का मिस करता हुआ)

दुष्यंत – मित्र, ठहरो हमको कुछ कहना है।

माढव्य—कहिए।

दुष्यंत—जब तुम विश्राम ले चुको तब हम एक ऐसे काम में तुमसे सहायता लेंगे जिसमें कुछ दौड़ना भागना न पड़ेगा।

माढव्य—अहह क्या खाँड़ के लड्डू खिलाओगे। तौ तो अभी अच्छा अवसर है।

दुष्यंत—अच्छा, अभी कहता हूँ। किसी द्वारपाल को बुलाओ।

(द्वारपाल आया)

द्वारपाल—(नमस्कार करके) स्वामी की क्या आज्ञा है।

दुष्यंत—हे रैवतक, तुम सेनापति को बुलाओ।

द्वारपाल—बहुत अच्छा। (बाहर जाकर सेनापति को बुला लाया) आओ तुम्हारी ही राह देखते महाराज बैठे हैं।

सेनापति—(दुष्यंत की ओर देखकर आप ही आप) मृगया को बड़ों ने दोष दिया है और अनर्थ कहा है, परंतु हमारे स्वामी को गुणदायक हुई है। बार बार धनुष खैंचने से महाराज का शरीर कैसा कड़ा हो गया है कि धूप नहीं व्यापती, न पसीना आता है। स्वामी का शरीर यद्यपि दुर्बल है तो भी डील पहाड़ सा और बल हाथो का सा है। (राजा के निकट जाकर प्रगट) स्वामी की जय हो। महाराज इस बन में हमने आखेटी पशुओं के खोज देखे हैं। यहाँ मृगया बहुत है। आप कैसे बैठे हो।

दुष्यंत—हे भद्रसेन, इस माढव्य ने इस मृगया की निंदा करके मेरा उत्साह मंद कर दिया है।

सेनापति—(हौले माढव्य से) तुम अपनी बात पर बने रहो मैं स्वामी के मन सुहाती कहूँगा। (प्रगट) महाराज इस राँड के को बकने दीजिए, भला आप ही सोचो कि मृगया में गुण है या अवगुण। एक तो यही गुण है कि मेदा घटाकर और तोंद छाँटकर शरीर चलने फिरने के योग्य बनाती है। देखिए क्रोध और भय से पशुओं की कैसी कैसी दशा होती है। धनुषधारियों की यही बड़ाई है कि चलते बेझे को बेध लें। मृगया को दोष लगाना मिथ्या है। इससे उत्तम तो मन बहलाने की कोई बात ही नहीं है।

माढव्य—(रिस से) अरे राजा को तो मृगया की टेव लग गई है। तुझे क्या हुआ है जो तू ऐसी बातें कहता है। बन

में बहुत दौड़ता फिरता है, किसी दिन कोई बूढ़ा रीछ तुझे सियार के धोखे न पकड़ ले।

दुष्यंत—हे सेनापति, यह आश्रम का समीप है। अब हम आखेट की बड़ाई करने में तुम्हारा पक्ष नहीं ले सकते हैं। आज भैंसों को आनंद से तालाबों में लोटने दो। हरिणों को घनी छाया में बैठकर रोंथ करने दो; सूअरों को अधसूखे पोखरों में मोथे की जड़ खोद खाने दो। मेरे धनुष की प्रत्यंचा ढीली हो गई है। आज इसे भी विश्राम मिलेगा।

सेनापति—जो इच्छा महाराज की।

दुष्यंत—आगे जो कमनैत बढ़ गए हैं उनको लौटा लो और सेना के लोगों को बर्ज दो कि इस तपोवन में कुछ विघ्न न डालें। उनको समझा दो कि यद्यपि तपस्वी लोगों में क्षमा बहुत हो ती है परंतु जब उनको क्रोध आता है तो उनके भीतर दाहक शक्ति भड़क उठती है। जैसे सूर्य्यकांत मणि का स्वभाव है कि वैसे तो छूने से ठंढी लगती है परंतु सूर्य्य के संमुख होते ही आग के समान हो जाती है।

सेनापति—जो आज्ञा महाराज की।

माढव्य—चल, जा ऐसे ही तेरा मुख बिगड़ता रहे।

(सेनापति गया)

दुष्यंत—(सेवकों की ओर देखकर) तुम भी अपना भेष उतार डालो और रैवतक तुम द्वार पर रहो, जब हम पुकारें तब उत्तर दो।

द्वारपाल—जो आज्ञा।

(बाहर गया)

माढव्य—इस स्थान को भला आपने निर्मल कर दिया, अब यहाँ कोई मक्खी भी नहीं रही। सुन्दर वृक्षों की छाया में आसन पर बैठिए, मैं भी सुख से विश्राम लूँगा और वह बात सुनूँगा जिसमें आपने कहा था कि दौड़ धूप न होगी।

दुष्यंत—पहले तुम्हीं बैठो।

माढव्य—आइए। (दोनों एक वृक्ष के नीचे बैठे)

दुष्यंत—हे माढव्य इस संसार में जो पदार्थ देखने योग्य हैं उनके दर्शन का सुख तेरे नेत्रों को प्राप्त नहीं हुआ।

माढव्य—क्या मेरे सामने महाराज नित्य नहीं रहते।

दुष्यंत—अपनी बड़ाई तो सभी को भाती है परंतु मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि तेरे नेत्रों ने कभी शकुंतला को नहीं देखा है जो इस आश्रम की शोभा है।

माढव्य—(आप ही आप) ऐसी लगन को बढ़ने देना अच्छा नहीं है। (प्रगट) जान पड़ा कि मित्र तुम तपस्वी की कन्या को चाहते हो सो भला इससे क्या मिलेगा वह तो ब्राह्मण की बेटी है।

दुष्यंत—हे सखा दूज के चंद्रमा को संसार मुँह उठाकर और आँख खोलकर किस प्रयोजन से देखता है। तू निश्चय मान कि अलोन वस्तु में पुरुवंशियों का मन कभी नहीं जाता है। शकुंतला एक राजर्षि की बेटी अप्सरा के पेट से है।

जनते ही उसकी मा उसे पृथ्वी पर डाल स्वर्ग को उड़ गई। दैवयोग से कण्व ऋषि वहाँ आ निकले। उन्होंने ऐसे उठा ली जैसे कोई मालती के कुम्हलाते नवीन फूल को आक के पत्ते से उठा ले।

माढव्य—(हँसकर) जैसे किसी की रुचि छुहारों से हट-कर इमली पर लगे तैसे ही तुम रनवास की स्त्री-रत्नों को छोड़ इस गँवारी पर आसक्त हुए हो।

दुष्यंत—हे सखा जो तू उसको एक बेर देखे तो फिर ऐसी न कहे।

माढव्य—सत्य है जिसकी राजा बड़ाई करे वह क्यों उत्तम न होगी।

दुष्यंत—(मुसक्याकर) बहुत कहाँ तक वर्णन करूँ। जब मैं ब्रह्मा की शक्ति को सोचता हूँ और शकुंतला के रूप को देखता हूँ तो मेरी समझ में इस सरस रत्न की चमक उसकी सब सृष्टि को फीका करती है। जितने सरूप के लक्षण हैं विधाता ने सब उसी मोहनी में इकट्ठे किए हैं।

माढव्य—जो ऐसी है तो उसके आगे सब रूपवती स्त्री निरादर हैं।

दुष्यंत—मेरी दृष्टि में तो ऐसी ही है। न जानूँ यह अन-सूँघा फूल, यह अछूता पत्ता, यह बिन बिधा रत्न, यह नया मधु, यह अखंड पुण्य का फल, यह रूप की राशि, विधाता किस बड़भागी के हाथ लगावेगा।

माढव्य—उससे बेग विवाह कर लो नहीं तो अखंड पुण्य का फल किसी ऐसे हिंगोट का तेल लगे हुए चिकने सिरवाले जोगी के हाथ पड़ जायगा।

दुष्यंत—मित्र वह परबस है और उसका पिता घर नहीं है।

माढव्य—भला तुमको वह कैसा चाहती है।

दुष्यंत—सुनो तपस्वियों की कन्या स्वभाव की सकुचीली होती हैं तो भी जब मैं उसके संमुख हुआ तो यद्यपि उसने मेरी ओर से दीठ फेर ली परंतु किसी मिस से मुसका भी गई। लाज के मारे वह न तो प्रीति को प्रगट ही कर सकी, न गुप्त ही रख सकी।

माढव्य—और क्या देखते ही तुम्हारी गोद में आ बैठती।

दुष्यंत—जिस समय मुझसे बिछुड़ने लगी बड़ी ही सुघड़ाई से अपनी चाह दिखाई। थोड़ी सी चली फिर पाँव में काँटा लगने का मिस करके बेअवसर खड़ी हो रही। फिर कुछ चलकर वृक्ष से अपने बल्कल वस्त्र छुड़ाने के मिस पीछे को निहारा।

माढव्य—धन्य है। आए तो मृग के पीछे थे यहाँ और ही खेल रच दिया। मित्र, इसी से यह तपोवन तुमको उपवन से अधिक प्यारा लगता है।

दुष्यंत—हे सखा, किसी किसी तपस्वी ने मुझे पहचान भी लिया है। अब कहो किस मिस से इस आश्रम में चलें।

माढव्य—इससे अधिक और क्या मिस राजा को चाहिए कि तपस्वियों से अन्न का अपना छठा भाग माँगो।

दुष्यंत—धिक् मूर्ख, कुछ और मिस बतला जिसमें बड़ाई मिले। ये तपस्वी तो हमको और ही भाग ऐसा देते हैं जिसके आगे रत्नों का ढेर भी तुच्छ है। क्योंकि जो कर और सब वर्णों से राजा को प्राप्त होता है सो सदा नहीं रहता, परंतु तपस्या का छठा भाग अक्षय है। सो ये ब्राह्मण हमको देते हैं।

(नेपथ्य में) अब हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ।

दुष्यंत—(कान लगाकर) अहा यह तो तपस्वियों का सा बोल है।

(द्वारपाल आया)

द्वारपाल—स्वामी की जय हो। दो ऋषिकुमार द्वार पर आए हैं।

दुष्यंत—तुरंत लाओ।

द्वारपाल—अभी लाता हूँ। (बाहर गया और दो ब्राह्मणों को साथ लेकर आया) इधर आओ, इधर आओ।

पहला ब्राह्मण—(राजा की ओर देखकर) अहा इस तेजस्वी राजा के दर्शन से मन में कैसा विश्वास उपजता है। क्या कारण है जिससे इसके संमुख आते ही मेरा सब भय मिट गया। मेरे जान यह हेतु होगा कि इसकी प्रकृति भी तपस्वियों की सी है। हमारी भाँति इसने भी आश्रम का निवास लिया है और हमारी रक्षा करना यही अपने लिये दिन प्रति दिन तप संचय करना ठहराया है। जितेंद्रिय राजा का यश

स्वर्ग तक पहुँचता है और वहाँ उसको गंधर्व अप्सरा राजर्षि कहकर गाते हैं।

दूसरा ब्राह्मण—हे गौतम, क्या यही इंद्र का सखा दुष्यंत है।

प० ब्राह्मण—हाँ यही है।

दू० ब्राह्मण—तो फिर क्या आश्चर्य है कि यह अकेला अपनी बाँहों से जो नगर के राजद्वार की अर्गला के तुल्य हैं समुद्र पर्यंत सब पृथ्वी पर राज करता है और स्वर्ग में देवता इंद्र के बज्र को भूल इसी के धनुष के प्रताप से दैत्यों पर अपना विजय पाना बखानते हैं।

दो० ब्राह्मण—(राजा के निकट जाकर) महाराज की जय हो।

दुष्यंत—(प्रणाम करके) तुम्हारे आगमन का कारण जानने की हमारी इच्छा है।

दो० ब्राह्मण—महाराज आश्रमवासियों ने यह जानकर कि आप यहाँ हो कुछ प्रार्थना की है।

दुष्यंत—क्या आज्ञा की है।

दो० ब्राह्मण—हमारे गुरु कण्व ऋषि यहाँ नहीं हैं और राक्षस आकर यज्ञ में विघ्न डालते हैं। इसलिये आप सारथी समेत कुछ दिन इस आश्रम की रक्षा करो।

दुष्यंत—(मुसक्याकर) यह तो मेरे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया।

माढव्य—(सैन देकर) अब तो तुम्हारी मनोकामना पूरी हुई।

दुष्यंत—(मुसक्याकर) रैवतक तू जाकर सारथी को आज्ञा दे कि रथ लावे और मेरा धनुष बाण भी लेता आवे।

द्वारपाल—जो आज्ञा। (बाहर गया)

दो० ब्राह्मण—(हर्ष से) आप अगलों की रीति पर चलते हो इससे यही उचित है। और यह तो प्रसिद्ध ही है कि शरणागत को अभय देने के निमित्त पुरुवंशी सदा रणकंकण बाँधे रहते हैं।

दुष्यंत—(प्रणाम करके) ब्राह्मणो, तुम आगे चलो मैं भी आया।

दो० ब्राह्मण—सदा जय रहे। (दोनों गए)

दुष्यंत—माढव्य क्या तेरी इच्छा शकुंतला के देखने की है।

माढव्य—पहले तो बड़ी उमंग थी परंतु जब से राक्षसों का नाम सुना है तब से उधर जाने को जी डरता है।

दुष्यंत—डरता क्यों है हमारे पास रहना।

माढव्य—मुझे राक्षस से बचाने का आपको अवकाश भी मिलेगा।

(द्वारपाल आया)

द्वारपाल—महाराज रथ आ गया है और आपकी माता की आज्ञा पाकर करभक दूत भी नगर से आया है।

दुष्यंत—(सत्कार करके) क्या माता का भेजा करभक आया है। अच्छा उसको आने दो।

द्वारपाल—जो आज्ञा। (बाहर गया और करभक दूत को लिवा लाया) महाराज इधर हैं, संमुख जा।

करभक—(साष्टांग होकर) स्वामी की जय हो। माता ने यह आज्ञा की है कि आपकी आर्बल बढ़ाने के निमित्त आज से चौथे दिन आपकी बरसगाँठ का उत्सव होगा। उस समय आपका आना भी आवश्यक है।

दुष्यंत—इधर तो तपस्वियों का काम, उधर बड़ों की आज्ञा—इनमें से कोई उल्लंघन योग्य नहीं है, इसका क्या उपाय करूँ।

माढव्य—(हँसकर) अब तो तुम त्रिशंकु बनकर यहीं ठहरो।

दुष्यंत—इस समय मेरे चित्त को सचा असमंजस है, क्योंकि दोनों कार्य दूर दूर पर हैं। (सोचता हुआ) हे सखा, तुझसे भी तो माता पुत्र कहकर बोली है। इससे तू ही नगर को जा और कह दे कि हमको तपस्वियों का कार्य करना अवश्य है।

माढव्य—यह तो सब करूँगा परंतु तुम कहीं ऐसा तो नहीं समझे हो कि मैं राक्षसों से डर गया हूँ।

दुष्यंत—(मुसक्याकर) नहीं, तू बड़ा वीर है, तू क्यों डरेगा।

माढव्य—तो अब मुझे राजा के छोटे भाई की भाँति जाना चाहिए।

दुष्यंत—हाँ ठीक है, इसी लिये तेरे साथ को भीड़ भाड़ भी चाहिए। इन सबको अपने साथ ले जा, क्योंकि तपोवन में इतना ठौर भी नहीं है।

माढव्य—तौ तो मैं युवराज ही हो गया।

दुष्यंत—(आप ही आप) यह ब्राह्मण बड़ा चपल है। कहीं हमारी लगन का वृत्तांत रनवास में न कह दे। अब इसको कुछ धोखा देना चाहिए। (माढव्य का हाथ पकड़कर) हे मित्र, मैं केवल ऋषियों का बड़प्पन रखने को इस तपोवन में जाऊँगा। यह तू निश्चय जान कि तपस्वी की कन्या शकुंतला के कारण नहीं जाता हूँ। देख जो कन्या हरिणियों के साथ रही है और शृंगार रस के मरम नहीं जानती है उससे क्योंकर मेरा मन लगेगा। उसका वृत्तांत जो मैंने तुझसे कहा था केवल मन बहलाने की बात थी।

माढव्य—सत्य है। आपकी जय रहे।

दुष्यंत—अच्छा हमारा सँदेसा यथार्थ भुगता दीजो। मैं तपस्वियों की रक्षा को जाता हूँ।

(सब बाहर गए)

अंक ३

स्थान—बन में तपस्वियों का आश्रम

(कण्व का एक चेला आया)

चेला—(कुश हाथ में लिए अचंभा सा करता हुआ) अहा दुष्यंत का कैसा आतंक है कि जिसके चरन बन में आते ही हमारे सब यज्ञ कर्म निर्विघ्न होने लगे। बाण चलाने की तो क्या चली प्रत्यंचा की फटकार और धनुष की टंकार ही से हमारे सब कलेश मिटा दिए। अब चलूँ मुझे ये दाभ वेदी पर बिछाने के लिए यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों को देने हैं। (फिरकर और नेपथ्य के पीछे देखकर) हे प्रियंवदा, किसके लिये उसीर का लेप और कमल के पत्ते लिए जाती है। (कान लगाकर सुनता हुआ) क्या कहा धूप लगने से शकुंतला बहुत व्याकुल हो गई है, उसके लिये ठंढाई लिए जाती हूँ। अच्छा तो दौड़ो जा, वह कन्या कण्व की प्राण है। मैं भी गौतमी के हाथ यह मंत्र का पढ़ा जल भेजूँगा। (बाहर गया)

(आसक्त मनुष्यों की सी दशा बनाए दुष्यंत आया)

दुष्यंत—तपस्या का प्रभाव मैं भली भाँति जानता हूँ और यह भी समझता हूँ कि वह पराये बस है, परंतु अपने चित्त को उससे हटाने की सामर्थ्य नहीं रखता हूँ। (फिरकर और देखकर)

हाय ! जब यज्ञ समाप्त होगा तब ऋषियों से बिदा होकर मैं कहाँ अपने दुखी जीव को बहलाऊँगा। (ठंढी स्वाँस लेकर) प्रिया के दर्शन बिना कोई मुझे धीरज देनेवाला नहीं है अब उसी को ढूँढूँ। (ऊपर देखकर) इस धाम को प्यारी कहीं मालिनी के तट पर लता-कुंजों में सखियों के साथ बिताती होगी। अब वहीं चलूँ। (फिरकर और देखकर) मेरी जीवनमूल यहीं होकर गई है क्योंकि जिन डालियों से फूल तोड़े हैं उनका दूध भी अभी नहीं सूखा है। (पवन का लगना प्रगट करके) यहाँ पवन कमलों की सुगंधि लिए और मालिनी की शीतल तरंगों को छुए इहो देह को स्पर्श करने आती है। (फिरकर) कहीं इन्हीं बेंतों के लतामंडल में प्यारी होगी। इन वृक्षों में तो देखूँ (फिरकर और चित्त लगाकर देखकर) अब मेरे नेत्र सफल हुए। मनभावती उस पटिया पर फूल बिछाए पौढ़ी है और सखी सेवा में खड़ी है। अब चाहो सो हो इनके मते की बातें सुनूँगा। (खड़ा होकर गहरी दृष्टि से देखता हुआ)

(दोनों सखियों समेत शकुंतला दिखाई दी)

दो० सखी—(पंखा झलती हुई) हे सखी शकुंतला, हम कमल के पत्तों से ब्यार करती हैं सो तेरे शरीर को लगती है कि नहीं।

शकुंतला—(अकुलाकर) सखियो, तुम क्यों मेरे लिये दुःख सहती हो।

(दोनों सखी एक दूसरी की ओर देखती हुई)

दुष्यंत—(आप ही आप) हैं! इसकी तो यह दशा हो रही है। क्या कारण इस ज्वर का है! धूप लगी है या जैसा मैं समझा हूँ। (सोच में डूबा हुआ) इस समय मेरे मन में कैसे कैसे संदेह उठते हैं। प्यारी के हृदय में उसीर का लेप लगा है और हाथों में कमलनाल का कंकण इतना ढीला हो गया है परंतु इस दुर्बलता पर भी शरीर कैसा रमणीय है। ग्रीष्मऋतु के भानु का संताप तरुण स्त्रियों को इतना नहीं सताता है।

प्रियंवदा—(हौले अनसूया से) हे अनसूया, तैंने भी देखा था या नहीं कि जब शकुंतला की दृष्टि उस राजर्षि पर पड़ी तब कैसी ठगी सी हो गई थी। कहीं वही रोग तो इसे नहीं है।

अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) मेरे मन में भी यही भासती है। चाहे सो हो इससे पूछना चाहिए (प्रगट) हे सखी शकुंतला, मैं यह पूछती हूँ तेरी यह दशा क्योंकर हुई है।

शकुंतला—(फूलों की सेज से थोड़ी सी उठकर) सहेलियो, तुम्हीं बताओ तुम इसका कारण क्या समझी हो।

अनसूया—सखी हम तेरे हृदय की तो क्या जानें परंतु जैसी दशा लगन लगे मनुष्यों की कहानियों में सुनी है वैसी तेरी दिखाई देती है। तू ही कह दे तुझे क्या रोग है, क्योंकि जब तक मरम न जाने वैद्य ओषधि भी नहीं कर सकता है।

दुष्यंत—(हौले आप ही आप) मेरे मन में भी यही थी।

शकुंतला—(हौले आप ही आप) मेरी बिथा तो भारी है परंतु इसका कारण तुरंत हो न कह दूँगी।

प्रियंवदा—हे शकुंतला, यह अनसूया भली कहती है तू अपने रोग को बढ़ने मत दे, क्योंकि दिन पर दिन तू दुबली होती जाती है, अब केवल स्वरूप ही रह गया है।

दुष्यंत—(हौले आप ही आप) प्रियंवदा ने सत्य कहा। इसके कपोल सूख गए हैं, अंग शिथिल हो गए हैं, कटि अति छीन पड़ गई है, कंधे झुक आए हैं, रंग पीला पड़ गया है, ऐसी हो गई है जैसी लपट की मारी चमेली की लता, परंतु मेरे मन को अब भी संजीवनी है।

शकुंतला—(आह करके) सखी तुमसे न कहूँगी तो किससे कहूँगी। तुम्हीं को दुःख दूँगी।

प्रियंवदा—प्यारी इसी से तो हम हठ करके पूछती हैं कि हितूजनों को बताने से दुःख घटता है।

दुष्यंत—(हौले आप ही आप) अब सुख दुख की साँझिन सखियों के पूछने से यह अपने मन की सब बात कह देगी। इसकी आँखों का ठगा मैं हूँ, सो मेरी भी यही चाह है कि अब इसके मुख से उत्तर सुनूँ।

शकुंतला—हे सखी, जब से मेरे नेत्रों के सामने इस तपोवन का रखवाला चतुर राजर्षि आया तभी से—(इतना कह लज्जित होकर चुप रह गई)

दो० सखी—कहे जा।

शकुंतला—तब से मेरा मन उसके वश होकर इस दशा को पहुँचा है।

अनसूया—चलो यह भी अच्छा हुआ कि जो तेरे योग्य था उसी से आँख लगी।

प्रियंवदा—यह कब हो सकता है कि निर्मल नदी समुद्र को छोड़ ताल में गिरे अथवा सुंदर लता आम को छोड़ दूसरे वृक्ष से लिपटे।

दुष्यंत—(हर्ष से आप ही आप) जो मैं सुना चाहता था सोई प्रिया के मुख से सुन लिया। मेरी बिथा का कारण प्रेम था। उसी ने उस बिथा को दूर किया जैसे सूर्य्यतेज ग्रीष्म में पहले जीव जंतु को तपाता है फिर मेह बरसाकर सुखकारी होता है।

शकुंतला—जो कुछ दोष न समझो तो ऐसा उपाय करो जिससे वह राजर्षि फिर मिले और जो तुम ऐसा न करना चाहो तो मुझे तिलांजली दो।

दुष्यंत—(आप ही आप) इस वचन से मेरा सब संशय मिट गया।

प्रियंवदा—(हौले अनसूया से) हे सखी, इस रोग की ओषधि मिलनी दुर्लभ दिखाई देती है और रोग ऐसा कठिन है कि इसमें विलंब होना न चाहिए। इससे जहाँ तक बुद्धि चल सके उपाय करो। लगन तो इसकी बड़ाई के योग्य है क्योंकि वह भी पुरुवंश का भूषण है।

अनसूया—(हौले) सत्य है परंतु कौन सा यत्न है जिससे यह रोग तुरंत मिटे और उपाय प्रगट भी न हो।

प्रियंवदा—(हौले अनसूया से) उपाय का तो गुप्त रखना कुछ कठिन नहीं है परंतु तुरंत मिलना बहुत दुर्लभ है।

दुष्यंत—(आप ही आप) चंद्रमा विशाखा नक्षत्र में आ जाय तो क्या आश्चर्य है।

अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) क्यों।

प्रियंवदा—(हौले अनसूया से) जिस समय प्रथम ही उस राजर्षि ने इसको स्नेह की दृष्टि से देखा मैं जान गई थी कि उसका भी मन इस पर आसक्त हुआ। अब सुनती हूँ कि वह भी ऐसा दुर्बल और पीला पड़ गया है मानों इसके अनुराग में उसे रात रात भर जागते बीतता है।

दुष्यंत—(आप ही आप) हो तो ऐसा ही गया हूँ। सारी सारी रात संताप के आँसुओं से भीगकर इस भुजबंद के रत्न फीके पड़ गए हैं और यह इतना ढीला हो गया है कि सरककर बार बार पहुँचे पर गिरता है।

प्रियंवदा—(प्रगट) हे सखी अनसूया, मेरे विचार में यह आता है कि एक प्रीतिपत्र लिखूँ और फूलों में छुपाकर प्रसाद के मिस से राजा को दूँ।

अनसूया—सखी यह उपाय बहुत उत्तम है परंतु शकुंतला से भी पूछ लो वह क्या कहती है।

शकुंतला—इस उपाय का परिणाम मुझे सोच लेने दो।

प्रियंवदा—जैसी तेरी दशा हो रही है वैसा ही कोई छंद भी बना दे।

शकुंतला—सखी मैं छंद तो रचूँगी परंतु डरती हूँ कि कहीं वह राजा अपमान करके फेर न दे।

दुष्यंत—(आप ही आप) जिसके अपमान से तू डरती है सो हे प्राणप्यारी, यह तेरे मिलने को तरसता है। जो कोई लक्ष्मी मिलने की चाह करे उसे चाहे लक्ष्मी न भी मिले परंतु जिसको लक्ष्मी चाहे वह क्योंकर न मिले। हे सुंदरी, जिससे आदर मिलने में तुझे संदेह है सोई यह प्रीति लगाए तेरे संमुख खड़ा है। रत्न किसी को ढूँढ़ने नहीं जाता है। रत्न ही को सब ढूँढ़ते हैं।

अनसूया—सखी तू अपने गुणों को घटाकर कहती है, नहीं तो ऐसा मूर्ख कौन होगा जो सूर्य्य का ताप मिटानेवाली शीतल शरद चाँदनी को रोकने के लिये अपने सिर पर कपड़ा ताने।

शकुंतला—मैं उसी बात के सोच विचार में हूँ जो तुमने कही है।

(सोचने लगी)

दुष्यंत—(आप ही आप) प्यारी को लोचन भर देखने का यह अवसर अच्छा है। इस समय छंद बनाने में इसकी एक चढ़ी भौंह कैसी सुंदर लगती है और पुलकित कपोलों से प्रीति कैसी स्पष्ट झलक रही है।

शकुंतला—सखी छंद तो मैंने बना लिया परंतु लिखने की सामग्री नहीं है।

प्रियंवदा—तू पढ़ती जा मैं इस कोमल कमल के पत्ते पर अपने नखों से लिख लूँगी।

शकुंतला—सखियो, सुनो इस छंद में अर्थ बना या नहीं।

दो० सखी—बाँच।

शकुंतला—(बाँचती हुई)

दोहा

तो मन की जानति नहीं अहो मीत सुखदैन।
पै मो मन को करत है मैन महा बेचैन॥

सोरठा

लाग्यो तोसों नेह रैन दिना कल ना परै।
प्रेम तपावत देह तन मन अपनो दे चुकी॥

दुष्यंत—(झट पट आगे बढ़कर उसी छंद में पढ़ता हुआ)

दोहा

केवल तोहि तपावही प्रेम अहो सुकुमारि।
भस्म करत पै मो हियो त चित देख बिचारि॥

सोरठा

भानु मंद कर देत केवल गंधि कमोदिनिहि।
पै शशिमंडल स्वेत होत प्रात के दरस तें॥

दो० सखी—(हर्ष से) तुम भले आए, हमारी सखी का मनोरथ पूरा हुआ। (शकुंतला आदर देने को उठने की इच्छा करती हुई)

दुष्यंत—रहो रहो, मेरे लिये क्यों परिश्रम करती हो, तुम्हारा यह ताप का सताया कोमल शरीर जो सेज के फूलों को कुम्हलाता है और ये भुजा जिनमें कमल के मुरझाए कंकनों की सुगंधि आती है इतना कष्ट सहने योग्य नहीं है।

शकुंतला—(आप ही आप) अरे मन तू अब तो धीरज धर।

अनसूया—महाराज आप भी उसी चट्टान पै बिराजिए जहाँ शकुंतला है। (शकुंतला ने जगह दी)

दुष्यंत—(बैठकर) कहो तुम्हारी सखी के शरीर का कुछ ताप घटा।

दो० सखी—(हँसकर) अभी ओषधि मिली है अब घटेगा। (शकुंतला लज्जित हो गई)

दुष्यंत—(आप ही आप) यह केवल अपने रूप ही के बल से मन को वश नहीं करती है इसका लज्जित होना भी चित्त को ठगे लेता है। देखो अपनी आँखों के ताड़ित किए कमल की पखुरियों को कैसे अनोखेपन से गिन रही है।

शकुंतला—प्रियंवदा मेरे निकट आ।

प्रियंवदा—(पास जाकर) आई।

शकुंतला—राजा से यों कहो। (कान में कुछ कहती हुई)

प्रियंवदा—हे बड़भागी, तुमसे शकुंतला बिनती करती है कि प्रथम मिलाप को भूल मत जाना। (शकुंतला से) महाराज भी यही कहते हैं।

शकुंतला—महाराज जैसे रूपवान् हैं वैसे ही चतुर भी हैं।

प्रियंवदा—हे सज्जन, यद्यपि तुम्हारी दोनों की परस्पर प्रीति प्रगट है परंतु इस सखी का स्नेह मुझसे फिर कुछ कहलाया चाहता है।

दुष्यंत—सुंदरी जो कुछ कहा चाहती हो निधड़क कहो, छुपाओ मत, क्योंकि कहने को मन में आवे और कहा न जाय तो चित्त को खेद करता है।

प्रियंवदा—प्रजा को दुःख हो तो राजा का धर्म है कि उस दुःख को मिटावे।

दुष्यंत—सत्य है इससे बड़ा कोई धर्म राजा के लिये नहीं है।

प्रियंवदा—हमारी सखी को लगन ने इस दशा को पहुँचा दिया है अब तुम्हीं इस योग्य हो कि इसको जीवदान दो।

दुष्यंत—हे सुंदरी प्रीति तो हमारी परस्पर है परंतु इसमें सब विधि कृतार्थ मैं ही हूँ।

शकुंतला—(मुसक्याकर) राजा को क्यों यहाँ बिलमाती हो इनका मन रनवास में धरा होगा।

दुष्यंत—मेरे मन को, हे मृगनयनी, तुझसे अधिक कोई प्यारा नहीं। अब तू ऐसे वचन कहकर क्यों मेरे हृदय को घायल करती है।

अनसूया—(हँसकर) हे सज्जन, हम यह सुनते हैं कि राजा बहुत रानियों के प्यारे होते हैं। तुम हमारी सखी का ऐसा निर्वाह करना जिससे हमको क्लेश न पहुँचे।

दुष्यंत—हे सुंदरी, अधिक क्या कहूँ मेरे रनवास में चाहे जितनी रानियाँ हों मुझे दो ही वस्तु संसार में प्यारी होंगी, एक पृथ्वी दूसरी तुम्हारी सखी।

दो० सखी—तो अब हमारी चिंता मिटी।

प्रियंवदा—(सैन देकर हौले अनसूया से) देख अब शकुंतला का जी कैसा हरा होता है जैसे लपट की सताई मोरनी वर्षा के बादल आने और शीतल पवन लगने से चैतन्य हो जाती है।

शकुंतला—(दोनों सखियों से) मैंने तुमसे बड़े कठोर वचन कहे हैं सो यह अपराध क्षमा करना।

प्रियंवदा—हमने सीख ही ऐसी दी थी जिससे कड़े वचन सुनने पड़ें, परंतु राजा से क्षमा माँगो उन्हीं का अपमान हुआ होगा।

शकुंतला—महाराज, मैं बिनती करती हूँ कि जो कुछ कहनी न कहनी बात मेरे मुख से आपके संमुख अथवा पीछे निकली हो वह अपराध क्षमा किया जाय। (हौले सखियों से) सखियो, तुम भी मेरे लिये कुछ कहो।

दुष्यंत—हे पद्मिनी, क्षमा मैं तब करूँगा जब तू फूलों की आधी सेज पर मुझे भी निज जन जान आसन देगी।

दो० सखी—हाँ हाँ सच्ची तो है। थोड़ी सी जगह राजा को भी दे, इनका मन संतुष्ट हो।

शकुंतला—(रिस सी होकर प्रियंवदा से) चुप रहो, चंचल, तुम मुझसे इस दशा में भी हँसी करती हो।

प्रियंवदा—(अनसूया की ओर देखकर) हे अनसूया, हरिण का बच्चा अपनी मा को ढूँढ़ता फिरता है, चलो उसे मिला दें। (दोनों चलीं)

शकुंतला—सखियो, मैं अकेली रही जाती हूँ। तुममें से एक तो मेरे पास रहो। यहाँ कोई नहीं है।

दुष्यंत—हे कामिनी, गुरुजनों का कुछ भय मत कर। काहे से कि कण्व धर्म को जानते हैं तुझे दोष न देंगे। बहुतेरी ऋषि कन्याएँ गंधर्व रीति से ब्याही गई हैं। उनके मा बाप ने कुछ दोष नहीं लगाया।

(नेपथ्य में) हे चकई, अब चकवा से न्यारी हो रात आई।

शकुंतला—(कान लगाकर और सटपटाकर) हे महाराजकुमार, निश्चय मेरे शरीर का वृत्तांत पूछने को कण्व की छोटी बहन गौतमी आती हैं। तुम वृक्ष की आड़ में हो जाओ।

दुष्यंत—अच्छा यही करूँगा। (चला गया)

(हाथ में कमंडल लिये गौतमी आई)

गौतमी—(शकुंतला की ओर अति चिंता से देखकर) पुत्री, तेरे लिए मंत्र पढ़ा जल लाई हूँ। क्या तू यहाँ अकेली ही है। सहेली कहाँ गई।

शकुंतला—प्रियंवदा और अनसूया दोनों अभी नदी को गई हैं।

गौतमी—(जल के छींटे देकर) शकुंतला तेरे शरीर का ताप कुछ घटा कि नहीं। (नाड़ी देखी)

शकुंतला—हाँ कुछ घटा है।

गौतमी—इस कुश के जल से तेरा शरीर निरोग हो जायगा, कुछ भय मत कर परंतु अब संध्या हुई, घर को चल।

शकुंतला—(हौले से उठकर आप ही आप) हे मन, तेरी आकांक्षा पूरी हो गई, तो भी चिंता न मिटी। इसका क्या उपाय होगा (थोड़ी दूर चलकर खड़ी हुई) हे संताप हरने-वाली लताओ, मैं तुमसे बिनती करती हूँ कि कभी फिर भी सुख दिखाना। (गौतमी के साथ चलती हुई)

दुष्यंत—(उसी स्थान पर आकर और गहरी साँस भरकर) सत्य है जिस बात का मनोरथ किया जाय उसमें विघ्न अवश्य होता है। (चारों ओर देखकर) हाय चट्टान पर यही फूलों की सेज है जिस पर वह पौढ़ी थी, यही कमल का पत्ता है जिस पर प्यारी ने स्नेह-पत्र लिखा था, यह उसकी बाँह से गिरा कमलों का कंकण है। यद्यपि यह बेंत लता सूनी है

तो भी इन चिन्हों को देख देख मुझसे छोड़ी नहीं जाती। मुझे धिक्कार है कि प्यारी से मिलकर फिर उसके वियोग में समय व्यतीत करता हूँ। जो एक बेर फिर इस लताभवन में वह मनभावती आवे तो कभी बिछुड़ने न दूँ। सुख की घड़ी बड़े श्रम से मिलती है। मेरा यह मूर्ख मन अब तो ऐसा प्रण करता है, परंतु प्यारी के संमुख कायर हो जाता है।

(नेपथ्य में) हे राजा, अब हमारा संध्या के यज्ञकर्म का समय हुआ और मांसाहारी राक्षसों की छाया हुताशन की वेदी पर साँझ के मेघ के वर्ण फिरती दिखाई देती है इससे भय उपजा है।

दुष्यंत—हे तपस्वियो, भयभीत मत हो, मैं आया।

(बाहर गया)

अंक ४

स्थान—तपोवन

(दोनों सखी फूल बीनती आईं)

अनसूया—हे सखी, प्रियंवदा, हमारी सहेली शकुंतला का गांधर्व-विवाह हुआ और पति भी उसी के समान मिला इससे हमारे मन को सुख हुआ परंतु फिर भी चिंता न मिटी।

प्रियंवदा—सखी और क्या चिंता रह गई।

अनसूया—आज वह राजर्षि तपस्वियों का यज्ञ पूरा करा-कर अपनी राजधानी हस्तिनापुर को बिदा हुआ है। वहाँ रनवास में पहुँचकर जाने यहाँ की सुध रहेगी या न रहेगी।

प्रियंवदा—इसकी कुछ चिंता मत करो। ऐसे गुणवान् मनुष्य कभी स्वभाव के खोटे नहीं होते हैं। अब चिंता की बात यह है कि न जाने पिता कण्व इस वृत्तांत को सुनकर क्या कहेंगे।

अनसूया—मेरे मन में तो यह भासती है कि वे इस वृत्तांत से प्रसन्न होंगे।

प्रियंवदा—क्यों।

अनसूया—इसलिये कि उनका संकल्प था कि यह कन्या किसी गुणवान् को देंगे सो दैव ने वैसा ही योग मिला दिया, फिर वे क्यों अप्रसन्न होंगे।

प्रियंवदा—सत्य है। (फूलों की टोकरी को देखकर) हे सखी जितने फूल पूजा के लिये चाहिएँ उतने तो बीन चुकीं।

अनसूया—अब थोड़े से शकुंतला से गौरिपूजा कराने के लिये और बीन लें।

प्रियंवदा—अच्छा। (दोनों फूल बीनने लगीं)

(नेपथ्य में) मैं आता हूँ।

अनसूया—(कान लगाकर) हे सखी ऐसा बोल जान पड़ता है मानों कोई अतिथि आश्रम में आया है।

प्रियंवदा—क्या डर है शकुंतला वहाँ बनी है।

अनसूया—शकुंतला है तो, परन्तु उसका मन ठिकाने नहीं है चलो इतने ही फूल बहुत हैं। (चल दीं)

(नेपथ्य में) हे अतिथि का निरादर करनेवाली, मैं तुझे शाप देता हूँ कि जा जिस पुरुष के वियोग में तू ऐसी बेसुध ध्यान लगाए बैठी है कि तैंने मुझ तपस्वी को भी आया न जाना, वही तेरा निरादर करेगा और फिर तू उसके संमुख होकर अपनी सुधि दिलावेगी तो भी वह तुझे ऐसा भूल जायगा जैसा कोई उन्मत्त मनुष्य चैतन्य होकर उन्मत्तता की कही बातों को भूल जाता है।

प्रियंवदा—हाय हाय बुरी हुई। किसी तपस्वी का अपराध बेसुधि में शकुंतला से बना।

अनसूया—(आगे देखकर) ठीक है, तभी रिस भरे दुर्वासा बेग बेग लौटे जाते हैं।

प्रियंवदा—इनको छोड़ और किसी को ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि अपराधी को शाप से भस्म कर दें। हे अनसूया तू पैरों पड़कर जैसे बने तैसे इनको मना ला तब तक मैं उनके लिये अर्घ सँजोती हूँ।

अनसूया —मैं जाती हूँ।

प्रियंवदा—(दौड़कर चली इससे पाँव रपट गया) हाय उतावली होकर मैंने फूलों की टोकरी गिराई। अब कहीं ऐसा न हो कि पूजा उल्लंघन हो जाय। (फूल बीनने लगी)

(अनसूया फिर आई)

अनसूया—हे सखी, इनका स्वभाव बहुत टेढ़ा है और क्रोध इतना है कि किसी भाँति मनाए नहीं मानते हैं परंतु तो भी मैंने कुछ सीधा कर लिया।

प्रियंवदा—इनका थोड़ा सीधा होना भी बहुत है। तुम यह कहो कि कैसे मने।

अनसूया—जब किसी भाँति न माने तब मैंने पैरों में गिर-कर यह बिनती की कि हे महापुरुष, तुमको इसने आगे नहीं देखा था, इससे तुम्हारे प्रभाव को नहीं जानती थी, अब इस कन्या का अपराध क्षमा करो।

प्रियंवदा—तब क्या कहा।

अनसूया—तब बोले कि मेरा शाप झूठा नहीं होता है, परन्तु जब इसका पति अपनी मुँदरी को देखेगा तब शाप मिट जायगा। यह कहकर अंतर्धान हो गए।

प्रियंवदा—तो कुछ आशा है क्योंकि जब वह राजर्षि चलने को हुआ था, तब उसने अपनी अँगूठी जिसमें उसका नाम खुदा था शकुंतला की उँगली में पहना दी थी और उसको तुरंत पहचान भी लेगा। यही शकुंतला के लिये अच्छा उपाय है।

अनसूया—आओ अब चलें। देवियों से प्रार्थना करें।

प्रियंवदा—हे अनसूया, देख बाएँ कर पर कपोल धरे पति के वियोग में प्यारी सखी कैसी चित्र सी बन रही है। दूसरे की तो क्या चलाई इसे अपनी भी सुध नहीं है।

अनसूया—हे प्रियंवदा, यह शाप की बात हम ही तुम जानें शकुंतला को मत सुनाओ, क्योंकि उसका स्वभाव कोमल बहुत है।

प्रियंवदा—ऐसा कौन होगा जो मल्लिका की लहलही लता पर तत्ता पानी छिड़के। (दोनों गईं)

(कण्व का एक चेला आया)

चेला—महात्मा कण्व ऋषि प्रभासतीर्थ से आ गए हैं और उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि देख आ रात कितनी रही है। सो मैं रात देखने को बाहर आया हूँ (इधर उधर फिर-कर आकाश की ओर देखता हुआ) अहा यह तो प्रभात हो गया, चंद्रमा और सूर्य इस संसार की संपत्ति विपत्ति की अनि-त्यता का कैसा अनुमान कराते हैं। ओषधिपति तो इस समय अस्त होने पर हैं और ग्रहपति अरुण को सारथी किए

उदय हुआ चाहते हैं। इनकी शोभा उदय अस्त पर बढ़ घट होती है। ऐसे ही सज्जन मनुष्य सुख दुख में धीरज रखते हैं। इनकी घटती बढ़ती इस संसार के उतार चढ़ाव का दृष्टांत है। वही कमोदिनी जिसकी शोभा की बड़ाई होती थी अब चंद्रास्त में दृष्टि को आनंद नहीं देती। केवल सुगंधि रह गई है और ऐसी कुम्हला गई है जैसे अपने प्यारे के वियोग में अबलाजन व्यथित होती हैं। देखो बेर के पत्तों पर ओस की बूँदों को अरुण कैसी शोभा देता है। दाभ की कुटी से मोर निद्रा छोड़ छोड़ बाहर निकलते हैं। यज्ञस्थानों से भाग भागकर मृग टीले पर खड़े कैसे ऐंड़ाते हैं। वही चंद्रमा जो गिरिराज सुमेरु के सिर पर पाँव धरता और अंधकार को मिटाता हुआ मध्य आकाश में विष्णुधाम तक चढ़ गया था अपना तेज गवाँकर नीचे को जाता है। ऐसे ही इस संसार में बड़े मनुष्य अति श्रम से अपनी कामना को प्राप्त होते हैं, फिर तुरंत उतरना पड़ता है।

(अनसूया कुछ कहती हुई आई)

अनसूया—(आप ही आप) यद्यपि शकुंतला तपोवन में इतनी बड़ी हुई है और उसने इंद्रियों का सुख नहीं जाना है तो भी लगन ने यह दशा उसकी कर दी है। हाय राजा ने कैसी अनीति इसके साथ की है।

चेला—(आपही आप) अब होम का समय हुआ गुरु से चलकर कहना चाहिए। (बाहर गया)

अनसूया—रैन बीत गई, मैं अभी सोते से भी नहीं उठी हूँ और जो उठी भी होती तो क्या करती। हाथ पैर तो कहने ही में नहीं हैं। अब निर्दई विधाता का मनोरथ पूरा हुआ कि उसने एक मिथ्यावादी राजा के वश में हमारी सीधी सच्ची सखी को डालकर इस दशा को पहुँचाया है और जो यह फल दुर्वासा के शाप का नहीं है तो क्या हेतु है कि धर्म्मात्मा राजा ने ऐसे बचन देकर अब तक सँदेसा भी नहीं भेजा। अब यह उचित है या नहीं कि उस मुँदरी को हम राजा के पास भेजें, अथवा और भी कोई उपाय है जिससे हमारी प्यारी सखी का विरह मिटे। उसका तो कुछ अपराध नहीं है, पिता कण्व तीर्थ करके आ गए परन्तु उनसे यह बात कहने को कि शकुंतला का विवाह राजा दुष्यंत से हो गया है और वह गर्भवती भी है मेरा हियाव नहीं पड़ता है। हे दैव, अब क्या उपाय करें जिससे शकुंतला की बिथा दूर हो।

(प्रियंवदा आई)

प्रियंवदा—अनसूया चलो, शकुंतला की बिदा का उपचार करें।

अनसूया—(आश्चर्य्य से) सखी तू क्या कहती है।

प्रियंवदा—अभी मैं शकुंतला से यह बात पूछने गई थी कि रात को चैन से सोई या नहीं।

अनसूया—तब।

प्रियंवदा—सो वह तो सिर झुकाये बैठी थी। इतने में पिता कण्व निकट आकर उससे मिले और यह शुभ वचन बोले कि हे पुत्री, बड़े मंगल की बात है कि आज प्रातःकाल जब ब्राह्मण ने अग्निकुंड में आहुति दी तब यद्यपि यज्ञ के धुएँ से उसकी दृष्टि धुँधली हो रही थी तो भी आहुति अग्नि के बीच में पड़ी। इसलिये अब तुमको मैं अधिक दुःख में न रक्खूँगा आज तुम्हारी बिदा इस कुटी से उस राजा के रनवास को कर दूँगा जिसने तुम्हारा पाणिग्रहण किया है।

अनसूया—हे सखी जो बातें मुनि के पीछे हुई थीं सो उनसे किसने कह दीं।

प्रियंवदा—जब मुनि यज्ञस्थान के निकट पहुँचे तब आकाशवाणी कह गई।

अनसूया—(चकित होकर) तू कैसी अचंभे की बात कहती है।

प्रियंवदा—सखी सुन आकाशवाणी ने यह कहा कि हे ब्राह्मण, जैसे होम की अग्नि से शमी गर्भवती होती है तैसे ही तेरी बेटी ने पृथ्वी की रक्षा के निमित्त राजा दुष्यंत से एक अंश तेज का लिया है।

अनसूया—(आनंद से प्रियंवदा को भेटकर) हे सखी, यह सुनकर मुझे बड़ा सुख हुआ। परंतु सखी के बिछोह का दुःख भी है, इसलिये आज हमारा हर्ष शोक समान है।

प्रियंवदा—सखी को सुख होगा इससे हमको भी कुछ शोक न करना चाहिए।

अनसूया—मैंने इसी दिन के लिये उस नारियल में जो वह देखो आम के वृक्ष पर लटकता है नागकेसर भर रक्खी थी। तुम उसे उतारकर कमल के पत्ते में रक्खो, तब तक मैं थोड़ा सा गोरोचन और मिट्टी और दूब मंगल कार्य के लिये ले आऊँ।

प्रियंवदा—बहुत अच्छा। (प्रियंवदा ने नागकेसर ली और अनसूया गई)

(नेपथ्य में) हे गौतमी, शारंगरव और शारद्वत मित्रों से कह दो कि शकुंतला के संग जाना होगा।

प्रियंवदा—(कान लगाकर) अनसूया विलंब मत करो, पिता कण्व हस्तिनापुर के जानेवालों को आज्ञा दे रहे हैं।

(अनसूया सामग्री लिए आई)

अनसूया—मैं आई, चलो। (दोनों गईं)

प्रियंवदा—(देखकर) वह देखो शकुंतला सूर्य उदय का सिरस्नान करके खड़ी है और बहुत सी ऋषियों की स्त्रियाँ टोकरियों में तंदुल लिए अशीश दे रही हैं। चलो हम भी अशीश दे आवें।

(शकुंतला और गौतमी और तपस्वियों की स्त्रियाँ आईं)

१ तपस्विनी—हे राजवधू, तू पति की प्यारी हो।

की क्या गति बेटी बिदा होने के समय होती होगी। (इधर उधर मन बहलाने के लिये टहलने लगे)

प्रियंवदा—सखी शकुंतला अब तुम्हारा यथोचित शृंगार हुआ। इस साड़ी को जो बनदेवियों ने दी है पहरो।

(शकुंतला ने उठकर साड़ी पहरी)

गौतमी—हे पुत्री, पिता कण्व मिलने को आये हैं।

शकुंतला—(उठकर लज्जा से) पिता मैं नमस्कार करती हूँ।

कण्व—पुत्री, जैसी प्यारी राजा ययाति को शर्मिष्ठा हुई तैसी ही तू अपने पति को होगी और जैसा चक्रवर्ती पुत्र पुरु शर्मिष्ठा के हुआ तैसा ही तेरे होगा।

गौतमी—ऋषि के वचन सत्य होंगे।

कण्व—आओ, बेटी हुताशन की प्रदक्षिणा कर लो। (सबने प्रदक्षिणा की) यही अग्नि जो वेदी में प्रज्वलित होकर नैवेद्य को लेती है परंतु मंत्र पढ़ी दाभ को यद्यपि आस पास बिछी है बाधा नहीं पहुँचाती, यही अग्नि जो हव्य के गंध से पापों को नाश करती है तेरी रक्षा करेगी। (शकुंतला ने परिक्रमा दी) अब पुत्री, तू शुभ घड़ी में बिदा हो। (चारों ओर देखकर) संग जानेवाले मिश्र कहाँ हैं।

(शारंगरव और शारद्वत आए)

दो० भाई—मुनि जी हम ये हैं।

कण्व—पुत्र शारंगरव अपनी बहन को गैल बताओ।

सारथी—आओ भगवती इधर आओ। (सब चले)

कण्व—हे तपोवन के वृक्षो, जिस शकुंतला ने तुम्हारे बिना सींचे कभी जल भी नहीं पिया और जिसे यद्यपि पुष्प पत्र के गहने बनाने का चाव था परंतु प्यार के मारे तुम्हारे फूल पत्ते कभी न तोड़े और बड़ा आनंद सदा तुम्हारे मौरने के समय माना इसको तुम पति के घर जाने की आज्ञा दो। (कोयल बोली) यह देखो बनदेवियों ने आज्ञा दी।

(आकाशवाणी) शकुंतला को यह यात्रा मंगलकारी हो और उसके सुख के निमित्त मार्ग में पवन फूलों का पराग बरसावे, कमलसंयुक्त निर्मल जल के ताल उसको सुख दें और वृक्षों की सघन छाया सूर्य के तेज से रक्षा करे।

शारंगरव—यह आशीर्वाद किसने दिया, कोकिला ने या तपस्वियों की सहवासिनी बनदेवियों ने।

गौतमी—हे पुत्रो, तपस्वियों की हितकारी बनदेवी तुझे आशीर्वाद देती हैं तू भी इनको प्रणाम कर। (शकुंतला ने फिरकर नमस्कार किया)

शकुंतला—(प्रियंवदा से हौले हौले) हे प्रियंवदा, आर्य-पुत्र से फिर भेट होने का तो मुझे बड़ा चाव है परंतु इस बन को जिसमें इतनी बड़ी हुई हूँ छोड़ते आगे को पाँव नहीं पड़ते हैं।

प्रियंवदा—अकेली तुझी को शोक नहीं है ज्यों ज्यों तेरे बिदा होने का समय निकट आता है तेरे विरह से बन में बिथा सी छाई जाती है। देख हरिणियों ने घास चरनी

छोड़ दिया है, मोर नाचना भूल गए हैं, वृक्षों के पत्ते तेरे विछोह की आँच से पीले हो होकर ऐसे गिरते हैं मानों आँसू टपके।

शकुंतला—पिता आज्ञा दो तो इस माधवीलता से भेंट लूँ, क्योंकि इससे मेरा बहिन का सा स्नेह है।

कण्व—बेटी, मिल ले मैं भी तुम्हारे स्नेह को जानता हूँ।

शकुंतला—(लता से भेंटकर) हे वनज्योत्स्ना, यद्यपि तू आम का आश्रय ले रही है तो भी भुजा पसार के मुझसे मिल ले। अब मैं तुझसे दूर जा पड़ूँगी, परंतु मन तुझी में रहेगा। पिता, इस लता को मेरे ही समान गिनियो।

कण्व—बेटी मेरे मन में बड़ी चिंता रहती थी कि तुझे अच्छा पति मिले सो अपने सुकृतों से तैंने योग्य वर पाया। अब मैं तेरी प्यारी लता का भी विवाह इस आम से जो उसके निकट मौर रहा है कर दूँगा। तू विलंब मत कर, बिदा हो।

शकुंतला—(दोनों सखियों के पास जाकर) हे सखियो, प्यारी माधवी को मैं तुम्हें सौंपती हूँ।

दो० सखी—हमें किस को सौंपे जाती है।

(दोनों ने आँसू डाल दिए)

कण्व—अनसूया इस समय रोना न चाहिए। शकुंतला को धीरज बँधाओ।

(सब आगे को चले)

शकुंतला—हे पिता, जब यह हरिनी जो गर्भ के बोझ से चलने में अलसाती है और आश्रम के निकट चरती है जने तब इसकी कुशल कहला भेजना, भूल मत जाना।

कण्व—न भूलूँगा।

शकुंतला—(कुछ चल और फिरकर) यह कौन है जो मेरे अंचल को नहीं छोड़ता।

(फिर पीछे फिरकर देखा)

कण्व—यह वही मृगछौना है जिसको तैंने पुत्रसम पाला है, यह वही है जिसका मुँह जब कभी दाभ से चिर जाता था तू हिंगोट का तेल लगाती थी और जिसको तैंने सामा के चावल खिला खिलाकर इतना बड़ा किया, अब यह अपने पालनेवाली के चरण क्योंकर छोड़े।

शकुंतला—अरे छौना, तू मेरे लिये क्यों रोता है। तेरी मा तो तुझे जनते ही छोड़ मरी थी। मैंने पालकर तुझे इतना बड़ा किया है। तैसे ही मेरे पीछे पिता कण्व तेरा पालन करेंगे। अब तू लौट जा। (आँसू डालती चली)

कण्व—बेटी यह समय रोने का नहीं है। हम सब फिर मिलेंगे। आँसुओं से तेरी दृष्टि रुक रही है। इससे ऐसा न हो कि ऊँचे नीचे में पाँव पड़े। अब तू अपने धीरज से आँसुओं को रोक।

सारथी—हे महात्मा, सुनते हैं कि प्यारे मनुष्यों को पहुँचाने वहाँ तक जाना चाहिए जहाँ तक जलाशय न मिले।

अब यह सरोवर का तट आ गया। आप हमको आज्ञा देकर आश्रम को सिधारो।

कण्व—तो आओ क्षणमात्र इस वट की छाया में ठहर लें। (सब छाया में गए) राजा दुष्यंत को क्या सँदेसा भेजना योग्य है। (विचार करने लगे)

अनसूया—(शकुंतला से हौले हौले) हे सखी, आज इस आश्रम में सबका चित्त तुझी में लगा है और सब तेरे बिछोह में उदास हैं। देख चकई कमल के पत्तों में बैठी बहुतेरा बोलती है परंतु चकवा उत्तर नहीं देता, चोंच से चुगा छोड़ तेरी ही ओर निहार रहा है।

कण्व—पुत्र शारंगरव, जब तू राजा के संमुख पहुँचे तब शकुंतला को आगे करके मेरी ओर से यह कहियो कि हम तपस्वियों को केवल तप के धनी जानो और अपने श्रेष्ठ कुल को विचारकर इस लड़की पर भी सब रानियों की भाँति वही स्नेह रक्खो जो तुम्हारे हृदय में आपसे आप इसकी ओर उत्पन्न हुआ है। इससे अधिक हम क्या कहें। और विशेष प्यार तो भाग्य के अधीन है।

शारंगरव—आपका सँदेसा मैंने भली भाँति गाँठ बाँध लिया।

कण्व—(शकुंतला की ओर बड़े मोह से) पुत्री, अब तुझे भी कुछ सीख दूँगा। क्योंकि यद्यपि हम बनवासी हैं तो भी लोक के व्यवहारों को भली भाँति जानते हैं।

शारद्वत—विद्वान् पुरुषों से क्या छुपा है।

कण्व—बेटी, सुन जब तू रनवास में बास पावे तब पति का आदर और गुरुजनों की शुश्रूषा करियो, सौतों में ईर्षा भाव मत रखियो, सहेली की भाँति टहल करियो, कदाचित् पति तिरस्कार भी करे तो भी उसकी आज्ञा से बाहर मत हूजियो, नौकर चाकरों को एक सा समझियो, और अपस्वार्थी मत हूजियो। जो कुलबधू इस धर्म में चलती हैं वे अच्छी गृह-स्थिनी कहलाती हैं और जो इससे विमुख होती हैं सो कुल-कलंकिनी होती हैं। जब पति संमुख आवे तो उठकर आदर कीजो और जो कुछ वचन वह कहे सो नम्रता से सुन लीजो, उसके चरणों में दृष्टि रखियो और बैठने को आसन दीजो। पति की सेवा आप कीजो, उसके पीछे सोइयो और पहले जागियो। यह सब कुलबधुओं के मुख्य धर्म बड़ों ने कहे हैं। कहो गौतमी यह शिक्षा कैसी है।

गौतमी—कुलबधुओं के लिये यह उपदेश बहुत श्रेष्ठ है। पुत्री इसको ध्यान में रखियो।

कण्व—बेटी, आ मुझसे और अपनी सखियों से एक बेर फिर मिल ले।

शकुंतला—क्या प्रियंवदा और अनसूया यहीं से आश्रम को लौट जायँगी।

कण्व—बेटी इनको लौट जाने की आज्ञा दे, क्योंकि अभी जब तक क्वारी हैं इनको नगर में जाना योग्य नहीं है। गौतमी तेरे संग जायगी।

शकुंतला—(कण्व से भेट कर) हाय मैं पिता की गोद से न्यारी होकर मलयागिरि से उखाड़े चंदन के पौधे की भाँति बिहूनी भूमि में कैसे जीऊँगी।

कण्व—पुत्री ऐसी विकल मत हो। जब तू घर की धनी होगी और राजा पति मिलेगा तब वैभव के कामों में यद्यपि कभी कभी व्याकुल हो जायगी परंतु इस दुःख का कुछ बहुत स्मरण न रहेगा और फिर जब तेरे तेजस्वी पुत्र का जन्म होगा तब इस विछोह को संपूर्ण भूल जायगी। (शकुंतला ऋषि के पैरों में गिर पड़ी) मेरे आशीर्वाद से तेरी मनोकामना पूरी होगी।

शकुंतला—(दोनों सखियों के पास जाकर) आओ सखियो दोनों एक ही संग भुजा पसार के भेट लो।

अनसूया—(दोनों मिलीं) हे सखी, कदाचित् राजा तुरंत तुझको न पहचान ले तो यह मुँदरी जिस पर उसका नाम खुदा है दिखा दीजो।

शकुंतला—(घबराकर) सखी तेरे इस वचन ने तो मेरा हृदय कँपा दिया।

प्रियंवदा—प्यारी डर मत। स्नेह में झूठी शंका बहुधा उठती है।

शारंगरव—अब दिन बहुत चढ़ गया है। चलो बिदा हो।

शकुंतला—(फिर आश्रम की ओर देखकर) हे पिता, इस आश्रम को कब फिर देखूँगी।

कण्व—बेटी जब कुछ काल पति के साथ तुझे बीत लेगा और तेरे महाबली पुत्र हो लेगा तब उस पुत्र को राज्य सौंप कर अपने पति सहित इस आश्रम में तू फिर आवेगी।

गौतमी—चलने का समय बीता जाता है। अब पिता को लौट जाने दे। मुनिजी आप जाओ।

कण्व—हे बेटी, मेरे नित्यकर्म्म में विघ्न मत डाल। (साँस लेकर) मेरा शोक न घटेगा क्योंकि तेरे सुकुमार हाथों के बोए धान कुटी के सामने नित्य दृष्टि के सोंही रहेंगे। अब सिधारो, मार्ग मंगलकारी हो।

(गौतमी और दोनों मिश्रों सहित शकुंतला गई)

दो० सखी—(वियोग से शकुंतला की ओर देखकर) अब तो सखी वृक्षों की ओट हुई।

कण्व—(साँस लेकर) बेटियो, अब तुम्हारी सखी गई। तुम इस सोच को त्यागकर हमारे साथ आओ।

दो० सखी—पिता शकुंतला बिना तपोवन सूना लगता है।

(सब लौटे)

कण्व—सत्य है। तुमको ऐसा ही दिखाई देता होगा। (विचार करते हुए चले) शकुंतला को बिदा करके आज मैं सुचित हुआ। बेटी किसी दिन पराए ही घर का धन होती है। आज मेरा चित्त ऐसा प्रसन्न हुआ है मानों किसी की धरोहर दे दी।

अंक ५

स्थान—राजभवन

(एक बड़ा द्वारपाल साँस भरता हुआ आया)

द्वारपाल—हाय ! बुढ़ापे ने मेरी क्या दशा कर दी है। यही छड़ी जिससे मैं आगे रनवास में द्वारपाली का काम भुगताता था अब बुढ़ापे में मेरे चलने का सहारा बनी है। (बाहर से शब्द हुआ कि राजा से कहो कुछ आवश्यक काम है) मुझे कुछ समाचार राजा से भुगताने हैं सो जब रनवास को जायँगे तब कहूँगा, परन्तु इसमें विलंब न होना चाहिए। (हौले आगे को चला) मैं क्या कहने को था। हाँ यह कि कण्व के चेले आशीर्वाद देने आए हैं। हे दैव, बुढ़ापा भी मनुष्य को कैसी आपदा है। इस अवस्था में मनुष्य की बुद्धि बुझते दीपक के समान कभी मंद, कभी चैतन्य हो जाती है। (इधर उधर फिरकर देखकर) महाराज वे बैठे हैं, अभी अपनी प्रजा को संतान के सदृश समाधान करके एकांत में गए हैं जैसे गजराज दिन में सब हाथियों को इधर उधर भेजकर आप शीतल छाँह में विश्राम लेने जाता है। राजा अभी धर्म्मासन से उठे हैं, इसलिये मुझे उचित नहीं है कि इस समय कण्व के चेले के आने का सँदेसा कहूँ, नहीं तो राजा विश्राम को जाने से रुक जायँगे, परन्तु जिनके सिर पृथ्वी का भार है उन्हें विश्राम कहाँ होता

है। सूर्य्य के रथ में घोड़े सदैव जुते ही रहते हैं। पवन दिन रात चला ही करती है, शेषनाग सदा पृथ्वी को शिर पर धरे ही रहता है, ऐसे ही जिसने प्रजा की कमाई से छठा भाग लिया उसको किसी समय विश्राम नहीं है। (इधर उधर डोलने लगा)

(दुष्यंत और माढव्य कुछ सेवकों समेत आए)

दुष्यंत—(अकुलाता सा) याचक तो अपना अपना वांछित पदार्थ पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंत:करण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य चिंता ही में रहता है। पहले तो राज्य बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीतकर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है, जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परंतु बोझ भी देता है।

(दो ढाड़ी गाते हुए आए)

कड़खा

प० ढाड़ी—निज कारण दुख ना सहो सहो पराये काज।
राजकुलन व्यवहार यह सो पालहु महराज॥
अपने सिर पर लेत हैं वर्षा शीतऽरु घाम।
जिमि तरवर हित पथिक के निज तर दे विश्राम॥

छप्पय

दू० ढाड़ी—दुष्टजनन बशकरन लेत जब दंड प्रचंडहि।
देत दंड उन नरन चलत मर्य्याद जो छंडहि॥

करत प्रजा प्रतिपाल कलह के मूल विनाशहि।
जिहिं निमित्त नृपजन्म-धर्म सब करत प्रकाशहि॥
महाराज दुष्यंतजू चिरजीवो नित नवल वय।
मेटि विघ्न उत्पात सब परजहिं करि राखो अभय॥

दोहा

धन वैभव तौ और हू बहुत क्षत्रियन माहिं।
पै सुप्रजाहित तुमहिं से अधिक भेद कछु नाहिं॥

सोरठा

राखत बंधु समान याही तें तुम सबन को।
करत मान सम्मान दुःख न काहू देत हो॥

दुष्यंत—इस राग के सुनने से परिश्रमों का दुःख मिटकर चित्त नया सा हो गया है।

माढव्य—सत्य है जैसे थके बैल की सब थकावट उस समय उतर जाती है जब लोग कहते हैं कि ये आए बैलों के राजा।

दुष्यंत—(मुसक्याकर) आहा मित्र तू यहीं है। आ एकांत में बैठें। (राजा और माढव्य दोनों बैठे)

माढव्य—(कान लगाकर) मित्र संगीतशाला की ओर कान लगाओ देखो बीन की तान कैसी मधुर मधुर आती है। रानी हंसमती तुम्हारे सुनाने को किसी नए गीत का अभ्यास कर रही है।

दुष्यंत—चुप रह सुनने दे।

द्वारपाल—(आप ही आप) अभी राजा का ध्यान दूसरी ओर है कुछ ठहरकर कहूँगा।

(अलग चला गया)

(नेपथ्य में—राग कलिंगड़ा इकताला)

भ्रमर तुम मधु के चाखन हार।
आम की रसभरी मृदुल मंजरी तासों प्रीति अपार॥
रहसि रहसि नित रस लेवे को धावत है करि नेम।
क्यों कल आई कमल बसेरे कित भूले प्यारी को प्रेम॥

दुष्यंत—आहा यह गत कैसा प्रेम उपजाती है।

माढव्य—आपने अर्थ समझ लिया, मेरी समझ में तो नहीं आया।

दुष्यंत—(मुसक्याकर) एक समय मैं हंसमती पर आसक्त था और अब इतने दिन बिछुरे हो गए हैं इससे उलहना देती है। मित्र तू जा हमारी ओर से कह दे कि रानी हम तेरी चेतावनी को समझे।

माढव्य—जो आज्ञा महाराज की। (हौले से कहकर) परंतु तुम तो मित्र ऐसी कहते हो जैसे कोई तीक्ष्ण बरछी की भाल को पराये हाथ से पकड़ना चाहे। मुझे यह अच्छा नहीं लगता है कि रोस भरी स्त्री से ऐसा सँदेसा जाकर कहूँ।

दुष्यंत—जा सखा, तेरी चतुराई की बातें उसका रोस मिटा देंगी।

माढव्य—धन्य है। अच्छा सँदेसा दिया है। देखिए क्या होगा। (बाहर गया)

दुष्यंत—(आपही आप) यह क्या कारण है कि यद्यपि मुझे किसी स्नेही का वियोग नहीं है तो भी विरह का गीत सुनते ही मेरे चित्त को उदासी हो जाती है। यह कारण हो तो हो कि सुंदर रूप देखकर और मधुर गान सुनकर मनुष्य को जन्मान्तर की प्रीति का स्मरण होता है।

द्वारपाल—(उदास होकर और आगे बढ़कर) महाराज की जय हो। हिमालय की तराई के वनवासी दो तपस्वी कुछ स्त्रियों समेत आए हैं और कण्व मुनि का सँदेसा लाए हैं। महाराज की क्या आज्ञा है।

दुष्यंत—(आश्चर्य से) क्या तपस्वी स्त्रियों के साथ आए हैं।

द्वारपाल—हाँ महाराज।

दुष्यंत—सोमराट् से कह दो कि वनवासियों को वेद की विधि से सत्कार करके लिवा लावे मैं भी उनसे भेटने योग्य स्थान में बैठता हूँ।

द्वारपाल—जो आज्ञा।

(बाहर गया)

दुष्यंत—कंचुकी हमको अग्निस्थान की गैल बताओ।

कंचुकी—महाराज यह गैल है। (आगे आगे चला) यह द्वार जिसमें दाभ बिछे हैं और होम धेनु बँधी है अग्निहोत्र-स्थान का है। आप पधारिए।

(नौकरों के कंधों पर सहारा लेकर दुष्यंत यज्ञस्थान की देहरी पर गया)

दुष्यंत—कण्व मुनि ने क्या सँदेसा भेजा होगा। कहीं तपस्वियों के तप में किसी ने विघ्न तो नहीं डाला, अथवा तपोवन के जीवों को किसी ने सताया तो न हो, अथवा मेरे पापों से तपस्वियों की बोई लता बेलों का फूलना तो नहीं मिट गया, ये सब असमंजस मेरे चित्त को व्याकुल करते हैं।

कंचुकी—जिस बात की चिंता महाराज को है सो कभी न हुई होगी, क्योंकि तपोवन के विघ्न तो केवल आपके धनुष की टंकार ही से मिट जाते हैं। मेरे जाने ये तपस्वी महाराज के सुकर्मों से प्रसन्न होकर धन्यवाद देने आए हैं।

(शारद्वत और शार गरव और गौतमी शकुंतला का हाथ गहे हुए आए और उनके आगे आगे बूढ़ा द्वारपाल और पुरोहित भी आए)

द्वारपाल—इधर आओ, महात्माओ, इस मार्ग आओ।

शारंगरव—हे मित्र शारद्वत, देखो जिस राजा के अधीन संसार के सर्व सुख हैं और जो सब मनुष्यों का आदर सम्मान करता है सो वह विराजमान है। यहाँ कोई कैसा ही आवे निरादर किसी का नहीं होता है, परंतु मेरा चित्त सदा सांसारिक बातों से विरक्त रहा है इसलिये आज बहुत से मनुष्यों में आने से मन घबराता है।

शारद्वत—सत्य है। जब से नगर में धँसे हैं तब से मेरी भी यही दशा है, परंतु मैंने तो अपना मन ऐसा समझा लिया है जैसे कोई निर्मल जल से नहाया किसी तेल मिट्टी

लपेटे हुए के साथ परवस पड़ जाय अथवा शुद्ध मनुष्य को अशुद्ध के साथ और जागते हुए को सोते के साथ और स्वतंत्र को बँधुए के साथ रहना हो और अपने मन को धीरज दे।

पुरोहित—इसी से तो आप सरीखे सज्जनों की बड़ाई है।

शकुंतला—(बुरा शकुन देखकर) हे माता, मेरी दाहिनी आँख क्यों फड़कती है।

गौतमी—दैव कुशल करेगा। तेरे भर्ता के कुलदेव अमंगलों को दूर करके तुझे सुख देंगे।

(सब आगे को बढ़े)

पुरोहित—(राजा को बतलाकर) हे तपस्वियो, वर्णाश्रम की रक्षा करनेवाले महाराज आसन पर बैठे तुम्हारी बाट हेरते हैं।

शारंगरव—यही हमारी चाह थी क्योंकि सदा की रीति है कि फल आए वृक्ष नवता है। सुखद जल धारण करके मेघ झुकता है, ऐसे ही परोपकारी नर संपत्ति पाकर अभिमान त्यागते हैं।

कंचुकी—महाराज, ये ऋषि लोग आपके संमुख चले आते हैं। इससे आपमें इनका स्नेह दिखाई देता है।

दुष्यंत—(शकुंतला की ओर देखकर) आहा यह नारी कौन है जिसका रूप वस्त्रों से झलक रहा है। तपस्वियों के बीच में ऐसी दीप्यमान है मानों पीले पत्तों में नई कोंपल।

कंचुकी—महाराज यह तो प्रत्यक्ष ही है कि रूप इस भाग्यवती का दर्शन योग्य है।

दुष्यंत—रहने दे। पराई स्त्री देखनी उचित नहीं है।

शकुंतला—(आपही आप अपने हृदय पर हाथ रखकर) हे हृदय तू क्यों धड़कता है। आर्यपुत्र के प्रथम मिलाप का ध्यान करके धीरज धर।

पुरोहित—(आगे जाकर) महाराज का कल्याण हो। इन तपस्वियों का आदर सत्कार विधिपूर्वक हो चुका। अब ये अपने गुरु का सँदेसा लाए हैं। सो सुन लीजिए।

दुष्यंत—(आदर से) सुनता हूँ, कहने दो।

दोनों भाई—(हाथ उठाकर) महाराज की जय रहे।

दुष्यंत—तुम सबको मैं भी प्रणाम करता हूँ।

दोनों भाई—आपके कल्याण हों।

दुष्यंत—तुम्हारे तप में तो कुछ विघ्न नहीं पड़ा।

शारंगरव—जब आप तपस्वियों के रखवाले बने हो फिर विघ्न क्योंकर पड़ेगा, सूर्य के प्रकाश में अँधेरा कब रह सकता है।

दुष्यंत—(आपही आप) तो अब राजा शब्द मुझमें यथार्थ हुआ। (प्रगट) कण्व मुनि प्रसन्न हैं।

शारंगरव—महाराज कुशल तो तपस्वियों के सदा अधीन रहती है। गुरुजी ने आपका अनामय पूछकर यह कहा है।

दुष्यंत—क्या आज्ञा की है।

शारंगरव—कि आपका इस कन्या से विवाह हुआ सो हमने प्रसन्नता से अंगीकार किया, क्योंकि आप तो सज्जन-शिरोमणि हो और हमारी शकुंतला भी साक्षात् सुशीलता का

रूप है। अब कोई ब्रह्मा को यह दोष न देगा कि अनमिल जोड़ो मिलाता है। तुम्हारे दोनों के समान गुण हैं। ऐसे दुलह दुलहिन की जोड़ी मिलाकर ब्रह्मा नाम धराई से बचा। शकुंतला तुमसे गर्भवती है। अब इसको अपने रनवास में लो और दोनों मिलकर शास्त्रानुसार व्यवहार करो।

गौतमी—हे राजा, तुम बड़े मृदुलस्वभाव हो, इससे मेरे भी जी में कुछ कहने को आती है।

दुष्यंत—(मुसक्याकर) हाँ, निस्संदेह कहो।

गौतमी—शकुंतला अपने पिता के आने तक न ठहरी और आपने भी अपने कुटुंबियों से न पूछी। आपही आप दोनों ने व्याह कर लिया, लो अब निधड़क बातचीत करो, हम तो जाते हैं।

शकुंतला—(आपही आप) देखूँ अब आर्यपुत्र क्या कहते हैं।

दुष्यंत—(क्लेश में आकर आपही आप) यह क्या स्वाँग है।

शकुंतला—(आपही आप) हे दई, राजा ने यह सँदेसा ऐसे निरादर से क्यों सुना।

शारंगरव—(आपही आप) राजा ने अभी हौले से कहा है कि यह क्या स्वाँग है, सो ऐसा कहा क्यों। (प्रगट) राजा तुम लोकाचार की सब बातों को जानते हो, स्त्री कैसी ही सुशीलता से रहे फिर भी पति के होते पीहर रहने में लोग चर्चा करते हैं, इसलिये अब हमारी इच्छा है कि चाहे इस

पर तुम्हारा प्यार हो चाहे न हो, यह तुम्हारे ही घर रहे तो भली है।

दुष्यंत—तुम क्या कहते हो। क्या मेरा इसका कभी विवाह हुआ है।

शकुंतला—(उदास होकर आपही आप) अरे मन तुझे डर था सोई आगे आया।

शारंगरव—महाराज क्या अपने किये को पछताते हो।

दुष्यंत—तुम किस भरोसे पर इस निर्मल कहानी को सच्चो बनाया चाहते हो।

शारंगरव—(क्रोध से) जिनको ऐश्वर्य का मद होता है उनका चित्त स्थिर नहीं रहता।

दुष्यंत—यह कठोर वचन तुमने मेरे ही लिये कहा।

गौतमी—(शकुंतला से) हे पुत्री, अब बहुत लाज मत कर। ला मैं तेरा घूँघट खोल दूँ जिससे तेरा भर्त्ता तुझे पहचान ले। (घूँघट खोल दिया)

दुष्यंत—(शकुंतला को देखकर आपही आप) जब मैं यह विचारता हूँ कि इस सुन्दरी का पाणिग्रहण कभी आगे मैंने किया है या नहीं तो मेरी गति उस भौंरे की सी हो जाती है जो प्रातःकाल ओस की बूँद भरे कुंद पर भ्रमता है, न छोड़ सके, न बैठ सके।

कंचुकी—(हौले दुष्यंत से) महाराज तो अपने धर्म और अधिकार में सावधान हैं। नहीं तो ऐसे स्त्री-रत्न को अपने रनवास में आने से कौन रोकता है।

शारंगरव—महाराज चुप क्यों हो रहे हो।

दुष्यंत—हे तपस्वी, मैं बार बार सुध करता हूँ परंतु स्मरण नहीं होता कि इस स्त्री से कब मेरा विवाह हुआ और यह बात क्षत्री धर्म के विरुद्ध है कि जिसको पराया गर्भ हो उसे मैं अपने रनवास में लूँ।

शकुंतला—(आपही आप) हे दैव, जो मेरे संग ब्याह ही होने में संदेह है तो अब मेरी बहुत दिन की लगी आशा टूटी।

शारंगरव—महाराज ऐसे वचन मत कहो। जिस ऋषि ने तुम्हारे अपराध को भूल अपनी कन्या ऐसे भेज दी है जैसे कोई चोर के पास अपना धन भेज दे उसका अपमान मत करो।

शारद्वत—शारंगरव तुम ठहरो, शकुंतला अब तू आपही कुछ पता बतलाकर अपने पति को सुधि दिला, यह तुझे भूला जाता है।

शकुंतला—(आपही आप) जो वह स्नेह ही न रहा तो अब सुधि दिलाये क्या होता है और जो इस जीव को दुःख ही बदा है तो कुछ बस नहीं है परंतु इससे दो बातें तो अवश्य करूँगी। (प्रगट) हे आर्यपुत्र, (फिर रुक गई) और जो इस शब्द में कुछ संदेह है तो हे पुरवंशी, यह तुमको उचित नहीं है कि आगे तपोवन में ऐसी प्रीति बढ़ाई और अब ये निठुर वचन कहते हो।

दुष्यंत—(कान पर हाथ धरकर) क्या तू मुझ निर्दोषी को कलंक लगाने के लिये कुछ छल करती है। देखो जो

नदी मरजाद छोड़कर चलती है वह अपना ही तट खसकाकर गँदली होती है और तट के वृक्षों को गिराकर अपनी शोभा बिगाड़ती है।

शकुंतला—जो तुम सुधि भूलकर सत्य ही मुझे परनारी समझे हो तो लो पते के लिये तुम्हारे ही हाथ की मुँदरी देती हूँ जिसमें तुम्हारा नाम खुदा है।

दुष्यंत—अच्छी बात बनाई।

शकुंतला—(उँगली को देखकर) हाय हाय मुँदरी कहाँ गई। (बड़ी व्याकुलता से गौतमी की ओर देखती हुई।)

गौतमी—जब तैने शक्रावतार के निकट शचीतीर्थ में जल का आचमन किया था तब मुँदरी गिर गई होगी।

दुष्यंत—(मुसक्या कर) त्रियाचरित्र यही कहलाता है।

शकुंतला—यह विधि ने अपना बल दिखाया है, परंतु अभी एक पता और भी दूँगी।

दुष्यंत—सो भी कहो।

शकुंतला—उस दिन की सुधि है या नहीं जब आपने माधवी कुंज में कमल के पत्ते से जल अपने हाथ में लिया था।

दुष्यंत—तब क्या हुआ।

शकुंतला—उसी दिन एक मृगछौना जिसको मैंने पुत्र की भाँति पाला था आ गया। आपने बड़े प्यार से कहा कि आ बच्चे पहले तू ही पानी पी ले। उसने तुम्हें विदेसी

जान तुम्हारे हाथ से जल न पिया, मेरे हाथ से पी लिया। तब तुमने हँसकर कहा कि सब कोई अपने ही संघाती को पत्याता है, तुम दोनों एक ही वन के वासी हो और एक से मनोहर हो।

दुष्यंत—चतुर स्त्रियों के मधुर वचनों ही से तो कामी मनुष्यों के मन डिगते हैं।

गौतमी—बस राजा, ऐसे कठोर वचन कहने योग्य नहीं हैं। यह कन्या तपोवन में पली है। यह दुखिया छल क्या जाने।

दुष्यंत—हे तपस्विनी, बिना सिखाए भी स्त्री जाति की चतुराई पुरुषों से अधिक होती है। सो यह बात केवल मनुष्यों ही में नहीं है सब जीव जंतु में है और कदाचित् स्त्री अच्छी सिखाई जायँ तो न जानिये क्या करें। देखो कोयल अपने अंडे बच्चे दूसरे पक्षियों से जिनसे उसका कुछ संबंध नहीं है पलवाती है।

शकुंतला—(क्रोध करके) हे अनारी, तू अपना सा कुटिल हृदय सबका जानता है। तुझसा छलिया कौन होगा। तैंने धर्म के भेष में कपट ऐसे दुराया है मानों गहरे कुएँ का मुख घास फूस से ढका है।

दुष्यंत—(आप ही आप) इसका कोप मेरे मन में संदेह उपजाता है कि इसका कहना कहीं सच्चा ही न हो। रोस से इसकी आँखें लाल हो गई हैं और जब कठोर वचन बोलती है तो मुख से शब्द टूटते हुए निकलते हैं। लाल होठ ऐसे

काँपते हैं मानों तुषार का मारा बिंबाफल और भौंहें यद्यपि सीधी हैं परंतु रोस में टेढ़ी हो गई हैं। जब अपने साधारण रूप से यह मुझे न छल सकी तब रिस का मिस करके भृकुटी चढ़ाई है। (प्रगट) हे बाला, दुष्यंत के शील स्वभाव को सब जानते हैं परंतु तेरा प्रयोजन क्या है सो कह।

शकुंतला—(व्याजस्तुति की भाँति) हाँ सत्य है, तुम राजा लोग ही तो सब बात के प्रमाण होते हो और तुम ही यथार्थ धर्म्म और लोकरीति जानते हो, स्त्री दुखिया कैसी ही लाजवती और सुलक्षणी हो तो भी धर्म नहीं जानती है, न सच बोलना जानती है। अच्छी घड़ी में मनभावते को ढूँढ़ने आई और अच्छे मुहूर्त्त में पुरुवंशी राजा से व्याह हुआ। तेरे मीठे वचनों ने मेरे विश्वास को जीत लिया था, परंतु हृदय में छिपा हुआ वह अस्त्र निकला जिससे मेरे कलेजे को घाव लगा। (घूँघट करके रोने लगी)

शारंगरव—इस राजा की चपलता देखकर मेरा मन लजाता है। अब से जो कोई गुप्त संबंध करे उसे चाहिए कि पहिले परीक्षा कर ले, क्योंकि जो प्रीति बिना स्वभाव पहचाने जुड़ जाती है थोड़े ही काल में बैर हो जाती है।

दुष्यंत—क्या तुम इसकी चिकनी चुपड़ी बातों को प्रतीत करके मुझे घोर पाप में डाला चाहते हो।

शारंगरव—(अवज्ञा करके) उत्तर था सो सुन लिया। यहाँ इस कन्या को कि जिसने जन्म भर छल का नाम भी नहीं

सीखा है कौन प्रतीति करता है। यहाँ तो वे ही सच्चे हैं जो दूसरे को दोष लगाना पढ़े हैं।

दुष्यंत—तुम बड़े सत्यवादी हो। ठीक कहते हो। मैं ऐसा ही हूँ, परंतु यह कहो इस स्त्री को दोष लगाने से मुझे क्या मिलेगा।

शारंगरव—भारी विपत्ति।

दुष्यंत—नहीं पुरुवंशियों के भाग्य में विपत्ति कभी नहीं लिखी है।

शारद्वत—हे शारंगरव, इस वाद से क्या अर्थ निकलेगा। हम तो गुरु का सँदेसा लाए थे सो भुगता चुके। अब चलो। और हे राजा, यह शकुंतला तेरी विवाहिता स्त्री है चाहे तू इसे रख, चाहे छोड़। स्त्री के ऊपर पति को सब अधिकार होता है। आओ गौतमी चलो। (दोनों मिश्र और गौतमी चले)

शकुंतला—हाय यह तो छलिया निकला, अब क्या तुम भी मुझे छोड़ जाओगे। (उनके पीछे चल खड़ी हुई)

गौतमी—(पीछे फिरकर) बेटा शारंगरव, शकुंतला तो बिलाप करती यह पीछे पीछे आती है। दुखिया को निर-मोही पति ने छोड़ दिया, अब यह क्या करे।

शारंगरव—(क्रोध करके शकुंतला से) हे अभागिन तू पति के औगुण देखकर क्या स्वतंत्र हुआ चाहती है।

(शकुंतला ठहर गई और काँपने लगी)

शारद्वत—हे भाग्यवती, सुन ले। जो तू ऐसी ही है जैसा तेरा पति कहता है तो पिता के घर रहने का तेरा क्या

अधिकार रहा और जो तू अपने मन से सच्ची है तो पति के घर में दासी होकर भी रहना अच्छा है। अब तू यहीं ठहर। हम आश्रम को जाते हैं।

दुष्यंत—हे तपस्वियो, क्यों इसे झूठी आशा देते हो। देखो चंद्रमा कमोदिनी ही को प्रसन्न करता है और सूर्य्य कमल ही को खिलाता है, ऐसे ही जितेंद्रिय पुरुष पराई स्त्री से सदा बचे रहते हैं।

शारद्वत—सत्य है परंतु तू ऐसा पुरुष है कि अधर्म और अकीर्ति से डरता है तो भी अपनी विवाहिता को छोड़ते नहीं लजाता और मिस यह बनाया है कि प्रजा के उपकार के कामों में अपने बचन को भूल गया है।

दुष्यंत—(अपने पुरोहित से) न जानूँ मैं ही भूल गया हूँ या यही झूठ कहती है। हे पुरोहित, तुम कहो दोनों पापों में से कौनसा बड़ा है, अपनी विवाहिता स्त्री को त्यागना अथवा पराई को ग्रहण करना।

पुरोहित—(बहुत सोचकर) महाराज इन दोनों के बीच में एक तीसरा उपाय और है, सो करना उचित है अर्थात् यह कि जब तक इसके पुत्र का जन्म हो तब तक इसे मेरे घर में निवास करने दो।

दुष्यंत—यह क्यों।

पुरोहित—अच्छे अच्छे ज्योतिषियों ने आगे ही कह रक्खा है कि आपके चक्रवर्ती पुत्र होगा। सो कदाचित् इसे

मुनि-कन्या के ऐसा ही पुत्र जन्मे और उसके लक्षण चक्रवर्ती के से पाए जायँ तो आप इसको आदरपूर्वक रनवास में लेना, नहीं तो यह अपने पिता के आश्रम को चली जायगी।

दुष्यंत—अच्छा जो तुम्हारी इच्छा हो।

पुरोहित—(शकुंतला से) आ पुत्री मेरे पीछे चली आ।

शकुंतला—हे धरती, तू मुझे ठौर दे, मैं समा जाऊँ।

(रोती हुई पुरोहित के पीछे पीछे गई और तपस्वी और गौतमी दूसरी ओर गए। शकुंतला को जाती देखकर राजा खड़ा सोचने लगा परंतु शाप के वश फिर भी सुध न आई।)

(नेपथ्य में) अहा बड़े आश्चर्य की बात हुई।

दुष्यंत—(कान लगाकर) क्या हुआ।

(पुरोहित फिर आया)

पुरोहित—महाराज बड़ा अचंभा हुआ। जब यहाँ से निकलकर कण्व के चेले गए और शकुंतला अपने भाग्य की निंदा करती हुई बाँह उठाकर रोने लगी—

दुष्यंत—तब क्या हुआ।

पुरोहित—तब अप्सरातीर्थ के निकट स्त्री के रूप में कुछ बिजली सी आई सो शकुंतला को उठा छाती से लगाकर ले गई।

(सब आश्चर्य्य करने लगे)

दुष्यंत—मुझे पहले ही भास गई थी कि इसमें कुछ छल है, सोई हुआ, अब इस बात में तर्क करना निष्फल है। तुम विश्राम करो।

पुरोहित—महाराज की जय रहे।

(बाहर गया)

दुष्यंत—द्वारपालिनी, इस समय मेरा चित्त बहुत व्याकुल हो रहा है आ तू मुझे शयनस्थान की गैल बता।

द्वारपालिनी—महाराज इस मार्ग आइए।

दुष्यंत—(चलता हुआ आप ही आप) मैं बहुतेरा सुध करता हूँ परंतु ध्यान में नहीं आता कि मुनिकन्या से कब मेरा विवाह हुआ और हृदय उकताकर ऐसा हो गया है कि इस स्त्री के वचनों को प्रतीति करना चाहता है।

अंक ६

स्थान—एक गली

(कोतवाल और दो प्यादे एक मनुष्य को बाँधे हुए लाए)

पहला प्यादा—(बँधुए को पीटता हुआ) अरे कुंभिलक, बतला यह अँगूठी जिसके हीरे पर राजा का नाम खुदा है तेरे हाथ कहाँ से आई।

कुंभिलक—(काँपता हुआ) मुझे मत मारो, मेरा ऐसा अपराध नहीं है जैसा तुम समझे हो।

प० प्यादा—क्या तू कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण है कि सुपात्र जान राजा ने यह अँगूठी तुझे दक्षिणा में दी हो।

कुंभिलक—सुनो, मैं शक्रावतार तीर्थ का धीवर हूँ।

दूसरा प्यादा—कह क्या तेरी जात पात पूछते हैं।

कोतवाल—हे सूचक, इसे अपना सब वृत्तांत कहने दो। कह रे सब कह दे, जब तक यह कहे तब तक इसे बाँधो, मारो मत।

दो० प्यादे—सुनता है रे या नहीं, जैसे कोतवालजी आज्ञा देते हैं वैसे कर।

कुंभिलक—मैं तो जाल बंसी से मछली पकड़ के अपने कुटुंब का पालन करता हूँ।

कोतवाल—(हँसकर) तेरी बहुत अच्छी आजीविका है।

कुंभिलक—महाराज, मुझे क्या दोष है यह तो हमारा कुल-धर्म्म ही है परंतु हम लोगों में भी बहुतेरे दयावान् होते हैं।

कोतवाल—अच्छा कहे जा।

कुंभिलक—एक दिन एक रोहू मछली मैंने पकड़ी। उसके पेट में यह हीरा जड़ी अँगूठी निकली। इसे बेचने के लिये मैं दिखला रहा था तब तक तुमने आ थामा। इतना ही अपराध मेरा है। अब जैसा तुम्हारे धर्म्म में लिखा हो तैसा करो, चाहो मारो चाहो छोड़ो।

कोतवाल—(अँगूठी को सूँघकर) सत्य है इस अँगूठी में मछली की बास आती है। इससे निश्चय यह मछली के पेट में रही होगी। चलो राजा के पास चलें।

दो० प्यादे—चलो जी।

(सब चले)

कोतवाल—सूचक तुम इस बड़े फाटक पर चौक में ठहरे रहो, मैं अँगूठी का वृत्तांत सुनाकर राजा की आज्ञा ले आऊँ।

दो० प्यादे—अच्छा जाओ। (कोतवाल गया)

प० प्यादा—हे जाल्लुक इस चोर के मारने को मेरे हाथ खुजाते हैं।

कुंभिलक—मुझ निरपराधी को क्यों मारना चाहते हो।

दू० प्यादा—(देखकर) कोतवालजी तो वे आते हैं, राजा ने भला तुरंत ही निबेड़ा कर दिया। अब कुंभिलक या तो छूट ही जायगा नहीं तो कुत्तों गिद्धों का भक्षण बनेगा।

(कोतवाल फिर आया)

कोतवाल—धीवर को—

कुंभिलक—(घबराकर) हाय अब मैं मरा ।

कोतवाल—छोड़ दो। महाराज कहते हैं कि अँगूठी का वृत्तांत हम जानते हैं, धीवर का कुछ अपराध नहीं है, इसे तुरंत छोड़ दो।

दू० प्यादा—जो आज्ञा। आज चोर यम के घर से बच आया। (छोड़ दिया)

कुंभिलक—(हाथ जोड़कर) आप ही ने मेरे प्राण बचाए हैं।

कोतवाल—अरे जा तेरे भाग्य खुल गए। राजा की आज्ञा है कि अँगूठी का पूरा मोल तुझे मिले सो यह ले। (थैली धीवर को दी)

कुंभिलक—(हाथ जोड़कर) मैं इस समय अपने तन में फूला नहीं समाता हूँ।

प० प्यादा—फूला क्यों समायगा। तू सूली से उतरकर हाथी पर चढ़ा है।

दू० प्यादा—राजा के प्रसन्न होने का क्या कारण है। अँगूठी तो कुछ ऐसी बड़ी वस्तु नहीं है।

कोतवाल—प्रसन्न होने का कुछ यह भी कारण है कि अँगूठी बड़े मोल की है, परंतु मुख्य हेतु मुझे यह जान पड़ा कि अँगूठी को देखकर राजा को अपने किसी प्यारे की सुध

आ गई क्योंकि यद्यपि राजा का स्वभाव गंभीर है तो भी जिस समय अँगूठी देखी विकल होकर मूर्छा आ गई।

दू० प्यादा—तो आपने राजा को बड़ा प्रसन्न किया।

प० प्यादा—हाँ, इस धीवर के प्रताप से (धीवर को कड़ी आँखों से देखा)

कु० भिलक—रिस मत हो, अँगूठी का आधा मोल मदिरा पीने को तुम्हें भी दूँगा।

दो० प्यादे—तो तू हमारा मित्र है, मदिरा हमको बहुत प्रिय है। चलो हम तुम साथ ही साथ हाट को चलें।

(बाहर गए)

स्थान—राजभवन की फुलवाड़ी

(मिश्रकेशी अप्सरा पवन में दिखाई दी)

मिश्रकेशी—एक करतब तो वह था जो मैंने अप्सरातीर्थ पर किया, अब चलकर देखूँ राजर्षि की क्या दशा है, शकुंतला मुझे बहुत प्यारी है, काहे से कि वह मेरी सहेली की बेटी है और मैं मेनका की आज्ञा से यह वृत्तांत देखने आई हूँ। (चारों ओर देखकर) आहा आज उत्सव के दिन राजकुल में क्या उदासी छा रही है। मुझे यह तो सामर्थ्य है कि बिना प्रगट हुए भी सब वृत्तांत जान लूँ परंतु मेनका की आज्ञा माननी चाहिए, इसलिए वृक्षों की ओट में बैठकर देखूँगी कि क्या होता है।

(उतरकर एक स्थान में बैठ गई)

(दो चेरी आम की मंजरी को देखती हुई आईं)

पहली चेरी—इस आम की हरी डाल पर नई मंजरी झोका लेती कैसी सोभती है मानों वसंत की मूर्छा जगाने को संजीवनी आई है। इसमें से एक डाली वसंत की भेट करूँगी।

दूसरी चेरी—हे कोकिला तू आप ही आप क्या कह रही है।

प० चेरी—अरी मधुकरी, आम की मंजरी को देख कोकिला उन्मत्त होती ही है।

दू० चेरी—(प्रसन्न होकर और निकट आकर) क्या प्यारी वसंत ऋतु आ गई।

प० चेरी—हाँ तेरे मधुर गीत गाने के दिन आ गए।

दू० चेरी—हे सखी, वसंत की भेट को मैं इस वृक्ष से मंजरी लूँगी, तू मुझे सहारा देकर उचका दे।

प० चेरी—जो मैं सहारा दूँगी तो भेट के फल में से आधा लूँगी।

दू० चेरी—जो तू यह न कहती तो क्या आधा फल न मिलता। मुझे तुझे बिधना ने एक प्राण दो देह बनाया है (एँड़ी उचकाकर बाँए हाथ से डाल पकड़ी और दहिने हाथ से मंजरी तोड़ीं) आहा ये कलियाँ तो अभी खिली भी नहीं हैं। यह, देखो एक मंजरी खिल गई है इसमें कैसी सुहावनी महक आती है। (मुट्ठी भरकर कलियाँ तोड़ लीं)

(द्वारपाल आया)

द्वारपाल—(रिस होकर) हे बावली तू क्यों कच्ची कलियों को तोड़ती है। राजा ने तो आज्ञा दे दी है कि अब के बरस वसंतोत्सव न हो।

दोनों चेरी—(डरती हुई) अब का हमारा अपराध छिमा करो। हमने नहीं जाना था कि राजा ने ऐसी आज्ञा दी है।

द्वारपाल—तुमने न जाना, रूख पेड़ों और पशु पक्षियों ने भी तो राजा के साथ उदासी मानी है। देखो ये कलियाँ बहुत दिनों से निकली हैं परंतु खिलती नहीं हैं और कुरवक का फूल यद्यपि लग आया है परंतु अब तक कली ही बना है। शिशिर बीतने को है तो भी कोकिला की वाणी कंठ ही में रुक रही है।

दोनों चेरी—(आप ही आप) इसमें संदेह नहीं है कि यह राजा ऐसा ही प्रतापी है।

पहली चेरी—कुछ दिन से हमको गंधर्वलोक के अधिकारी मित्रवसु ने राजा के चरण देखने को भेजा है, तब से हम राजा के उपवनों में अनेक क्रीड़ा करती फिरती थीं। इसलिए राजा की यह आज्ञा हमने नहीं सुनी।

द्वारपाल—हुआ सो हुआ। फिर ऐसा मत करना।

दोनों चेरी—राजा की आज्ञा तो हम मानेहींगी परंतु हे द्वारपाल जो हम इस वृत्तांत के सुनने योग्य हों तो कृपा करके बताओ कि राजा ने क्यों वसंतोत्सव का होना बरजा है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) राजाओं को राग रंग सदा प्रिय होता है इसलिये कोई बड़ा ही कारण होगा जिससे दुष्यंत ने ऐसी आज्ञा दी है।

द्वारपाल—(आप ही आप) यह तो प्रसिद्ध बात है। इसके कह देने में क्या दोष है। (प्रगट) क्या शकुंतला के त्याग का समाचार तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँचा है।

पहली चेरी—हाँ अँगूठी मिल जाने तक का वृत्तांत तो हमने गंधर्वलोक के नायक से सुन लिया है।

द्वारपाल—तो अब मुझे थोड़ा ही कहना पड़ेगा सो सुनो। जब अपनी अँगूठी को देखकर राजा को सुध आई तो तुरंत कह उठा कि शकुंतला मेरी विवाहिता है। जिस समय मैंने उसे त्यागा मेरी बुद्धि ठिकाने न थी। फिर राजा ने बहुत विलाप और पछतावा किया और तभी से संसार को सब छोड़ बैठा है, न तो प्रजा के उपकार में चित्त लगता है, न दिन प्रति दिन राजसभा होती है। रात रात भर नींद नहीं आती, सेज पर करवटें लेते कटती है। भोर जब उठता है तो सीधी कोई बात मुख से नहीं निकलती, बिथा का मारा रनवास की स्त्रियों को शकुंतला ही शकुंतला कहकर पुकारता है, फिर लाज का मारा घुटने पर सिर रखकर बैठा रहता है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) यह बात तो मुझे बड़ी प्यारी लगी।

द्वारपाल—इसी उदासी के कारण वसंतोत्सव बरज दिया गया है।

दो० चेरी—यह बरजना बहुत योग्य है।

(नेपथ्य में) गैल करो महाराज आते हैं।

द्वारपाल—(कान लगाकर) हे सखियो, राजा आते हैं। अब तुम जाओ। (दोनों गईं)

(दुष्यंत पछताता हुआ आया और आगे एक कंचुकी और साथ माढव्य आया)

द्वारपाल—(राजा की ओर देखकर) सत्य है, तेजस्वी पुरुष सभी अवस्था में शोभायमान होते हैं। हमारे स्वामी यद्यपि उदासी में हैं तो भी कैसे दिव्य दिखाई देते हैं। महाराज ने शृंगार का त्याग कर दिया है और शरीर ऐसा दुर्बल हो गया है कि भुजबंद सरक सरककर कलाई पर आता है, गहरी साँस लेते लेते होठों की लाली फीकी पड़ गई है और जागने और चिंता करने से आँखों में लाली छा गई है। तो भी अपने तेज के गुण से ऐसे दीप्तिमान हैं मानों सान का चढ़ा हीरा।

मिश्रकेशी—(दुष्यंत की ओर देखकर आपही आप) शकुंतला अपना अनादर और त्याग हुए पर भी इस राजा के विरह में व्यथित हो रही है, सो क्यों न हो। यह इसी योग्य है।

दुष्यंत—(बहुत सोच में आगे बढ़कर) हे मन, जब प्यारी मृगनयनी ने तुझे स्नेह की सुध दिलाई तब तू सोता ही रहा। अब पछताने को क्यों जगा है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) वह अंत में सुख पावेहोगो।

माढव्य—(आप ही आप) हमारे राजा को स्नेह की पवन के झोके ने फिर सताया। इस रोग की क्या ओषधि करें।

द्वारपाल—(दुष्यंत के पास जाकर) महाराज की जय हो। मैं वन उपवनों को देख आया। आप चलकर जहाँ इच्छा हो विश्राम कीजिए।

दुष्यंत—(द्वारपाल की बात पर कुछ ध्यान न देकर) कंचुकी, तुम राजमंत्रो से कह दो कि हमारा विचार कुछ दिन के लिये नगर से चले जाने का है इससे राजसिंहासन सूना रहेगा। जो कुछ काम काज प्रजा संबंधी हो लिखकर हमारे पास भेज दिया करें।

कंचुकी—जो आज्ञा। (बाहर गया)

दुष्यंत—(द्वारपाल से) पर्वतायन, तू अपने काम में असावधानी मत करियो।

द्वारपाल—जो आज्ञा, महाराज की। (बाहर गया)

माढव्य—अच्छा तुमने इस जगह को निर्मल किया। अब इस रमणीक कुंज में मन बहलाओ।

दुष्यंत—हे माढव्य, जब कोई किसी को कुछ दोष लगावे और वह निरपराधी ठहरे तो दोष लगानेवाला कैसा दुःख पाता है। देखो मुनिसुता के स्नेह की सुधि तब तो मुझे भ्रम ने भुला दी, अब दुखदाई मनोभव मानों अपने धनुष पर आम की मंजरी का नया तीर चढ़ाकर आया है।

माढव्य—नेक धीरज धरो मनोभव के तीरों को अभी लाठी से तोड़े डालता हूँ। (आम की मंजरियों को झोरने लगा।)

दुष्यंत—(ध्यान करता हुआ) हाँ मैंने ब्रह्मा का कर्त्तव्य जाना। (माढव्य से) कहो मित्र अब कहाँ बैठकर शकुंतला की उनहारि की लताओं को देखूँ।

माढव्य—वही सखी जो चित्र विद्या में बहुत चतुर है और जिससे आपने कहा था कि इस माधवी कुंज में बैठकर हम मन बहलावेंगे आती होगी और महारानी शकुंतला का चित्र भी आपके आज्ञानुसार लावेगी।

दुष्यंत—चलो प्यारी के चित्र ही से मन भर जायगा। कुंज की गैल बताओ।

माढव्य—इस गैल आओ, मित्र। (दोनों चले और पीछे पीछे मिश्रकेशी भी चली) यह माधवी कुंज जिसमें मणिजटित पटिया बिछी है यद्यपि निर्जीव है तो भी ऐसी दिखाई देती है मानों आपका आदर करती है। आओ चलकर बैठें। (दोनों लताकुंज में बैठे)

मिश्रकेशी—(आप ही आप) इस लता की ओट में बैठकर शकुंतला का चित्र देखूँगी और फिर इसके पति का सच्चा स्नेह जाकर उससे कह दूँगी। (लता की ओट में बैठ गई)

दुष्यंत—(ठंडी साँस भर के) हे मित्र, अब मुझे शकुंतला के प्रथम मिलाप की सब सुध आ गई है। तुझसे भी तो मैंने उसका वृत्तांत कहा था परंतु जिस समय मैंने उसका अनादर

किया तब तू मेरे पास न था। तैंने भी कभी उसका नाम न लिया। सो क्या तू भी उसे मेरी ही भाँति भूल गया था।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) राजाओं को एक घड़ी भर भी अकेला न छोड़ना चाहिए।

माढव्य—नहीं नहीं मैं नहीं भूला हूँ। परंतु जब आप सब वृत्तांत कह चुके थे तब यह भी तो कहा था कि यह स्नेह की कहानी हमने मन बहलाने को बनाई है और मैंने आपके कहने को अपने भोले भाव से प्रतीत कर लिया था। भवितव्यता प्रबल है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) सत्य है।

दुष्यंत—(ध्यान करके) हे माढव्य, इस दुःख से छुड़ाने का कुछ उपाय कर।

माढव्य—ऐसा तुमको क्या नया दुःख पड़ा है। इतना अधीर होना सत्पुरुषों को योग्य नहीं है। देखो पवन कैसी ही चले पर्वत को नहीं डिगा सकती है।

दुष्यंत—सखा जिस समय मैंने प्यारी का त्याग किया उसकी ऐसी दशा थी कि अब उसकी सुध करके मैं व्याकुल हुआ जाता हूँ। हाय! जब उसने साथी ब्राह्मणों के पीछे चलने को मन किया, ऋषि के चेले ने झिड़ककर कहा कि यहीं रह। फिर भी एक बेर प्यारी ने मुझ निर्दयी की ओर आँसू भरे नेत्रों से देखा। अब वही दृष्टि मेरे हृदय को विष की बुझी भाले के समान छेदती है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) देखा अपना प्रयोजन कैसा होता है कि इसका दुःख सुनना भी मुझे सुहाता है।

दुष्यंत—मित्र विचारो तो उस अप्सरा को कौन ले गया।

माढव्य—जो इतना ही जानता तो अब तक तुम्हारा दुःख क्यों न दूर कर देता। आप ही विचारो।

दुष्यंत—ऐसी पतिव्रता को डिगाने की सामर्थ्य और किसी में न थी। उसकी मा मेनका सुनी है। सो मेनका ही की सखियाँ ले गई होंगी।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) सुध का भूलना अचरज की बात है, न कि सुध का आना।

माढव्य—मित्र जो यही बात है तो उसके मिलने में कुछ विलंब मत जानो।

दुष्यंत—क्यों यह तुमने कैसे जाना।

माढव्य—ऐसे जाना कि मा बाप अपनी बेटी को पति-वियोग में बहुत काल नहीं देख सकते हैं।

दुष्यंत—क्या उस समय मुझे निद्रा थी या कुछ माया थी या मेरी मति भंग हो गई थी या मेरे कर्मों ने पलटा लिया था। कुछ हो यह निश्चय है कि जब तक फिर शकुंतला न मिलेगी मैं दुःख के सागर में डूबा ही रहूँगा।

माढव्य—निरास न हूजिये। देखो मुँदरी ही दृष्टांत इस बात का है कि खोई वस्तु फिर मिल सकती है दैव इच्छा सदा बलवती है।

दुष्यंत—(मुँदरी को देखकर) मुझे इस मुँदरी का भी बड़ा सोच है। यह ऐसे स्थान से गिरी है जहाँ फिर पहुँचना दुर्लभ है। यह मुझ सी मंदभागिनी है, क्योंकि उस कोमल उँगली में जिसके नखों की लाली चुन्नी की दमक को फीका करती थी पहुँचकर फिर गिर गई।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) जो किसी और के हाथ पड़ती तो निःसंदेह इस मुँदरी का भाग्य खोटा गिना जाता।

माढव्य—कृपा करके यह तो कहो कि यह अँगूठी शकुंतला की उँगली तक क्योंकर पहुँची।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) मैं भी यही सुना चाहती थी।

दुष्यंत—सुनो, जब मैं तपोवन से अपने नगर को चलने लगा तब प्यारी ने आँखें भरके कहा कि आर्य्यपुत्र, फिर कब सुध लोगे।

माढव्य—भला फिर।

दुष्यंत—तब यह अँगूठी उसकी उँगली में पहनाकर मैंने उत्तर दिया कि इसके अक्षरों को तू एक एक कर प्रतिदिन गिनियो, जिस दिन पिछला अक्षर गिनती में आवे उसी दिन जानना कि आज रनवास से कोई लिवाने आवेगा परंतु हाय मुझ निर्दई को यह सुध न रही।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) इनके वियोग और संजोग में तीन दिन का अंतर बहुत अच्छा ठहरा था परंतु ब्रह्मा ने बिगाड़ दिया।

माढव्य—फिर वह मुँदरी मछली के पेट में कैसे गई।

दुष्यंत—जिस समय प्यारी ने सचीतीर्थ से आचमन को जल लिया तब जल में गिर पड़ी होगी।

माढव्य—ठीक है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) आहा यही बात है कि राजा ने अधर्म्म से डरकर अपने विवाह का संदेह किया परंतु आश्चर्य्य है कि फिर उसे मुँदरी से क्योंकर सुध हुई।

दुष्यंत—मैं इस मुँदरी को कुछ बुरा कहा चाहता हूँ।

माढव्य—(आप ही आप) राजा उन्मत्त हो गया है। (प्रगट) सोई मैं भी अपनी लाठी से कहा चाहता हूँ।

दुष्यंत—क्यों माढव्य, तुम लाठी से क्यों बुरा कहा चाहते हो।

माढव्य—इसलिये कि मेरा अंग तो टेढ़ा है और यह ऐसी सीधी बनी है। बड़ी धृष्ट लाठी है।

दुष्यंत—(उसकी बात पर कुछ ध्यान न देकर) हे मुँदरी, तुझे क्योंकर उस हाथ से गिरते बना जिसमें कोमल उँगली कमलों को लजाती थी। यह तो अज्ञान है इससे क्या कहूँ, मैंने ज्ञानवान् होकर अपने जीवनमूल को क्यों त्यागा।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) मैं कहा चाहती थी सोई इसने कहा।

माढव्य—(आप ही आप) जब तक यह सोच में है तब तक मुझे भी यहाँ ठहरना और भूखों मरना पड़ा।

दुष्यंत—हे प्यारी, मैंने तुझे निष्कारण त्यागा। अब फिर कब दर्शन देकर हृदय के पश्चात्ताप को मिटावेगी।

(एक सखी चित्र हाथ में लिए आई)

सखी—महाराज, देखिए महारानी का चित्र यह है।

(चित्र सामने दिखाती हुई)

दुष्यंत—(चित्र को देखकर) हाँ यही प्यारी का सुंदर मुख है। ये ही कटीले नेत्र हैं। ये ही मधुर मुसक्यान भरे अधर हैं, जिनकी लाली बिंबाफल को लजाती है। प्राणप्यारी का मुख ऐसा बना है मानों अभी बोल उठेगी। बदन की कांति अनेक रंगों में छुपी प्रीति के बान छोड़ती है।

माढव्य—सत्य है, यह चित्र ऐसा सुहावना लगता है मानों साक्षात् सुंदरापा आगे खड़ा है। हे मित्र, मेरी आँख नख से सिख तक इसके प्रत्येक अंग की शोभा देखने को लजाती है। इस चित्रदर्शन से मुझे ऐसा आनंद होता है मानों शकुंतला ही से बातें कर रहा हूँ।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) अच्छा चित्र बना है। इसमें शकुंतला ऐसी दिखाई देती है मानों आँखों के सामने खड़ी है।

दुष्यंत—फिर भी चित्र उसके रूप को कहाँ पाता है। हाँ जो कुछ न्यूनता इसमें रह गई है उसको जब मैं अपने मन की कल्पना से पूरा कर लेता हूँ तब यह प्यारी की मोहिनी मूरति की छाया देता है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) जैसी प्रीति है वैसा ही पछतावा भी है।

दुष्यंत—(आह भर कर) हाय जब वह आप मेरे सम्मुख आई तब मैंने अनादर किया। अब उसके चित्र को इतना सम्मान देता हूँ। मेरी गति उस बटोही की सी है जो नदी को त्याग प्यास का मारा मृगतृष्णा को दौड़ता है।

माढव्य—यहाँ तो इतने चित्र लिखे हैं, मेरे ध्यान में नहीं आता कि महारानी शकुंतला कौन सी है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) इस बूढ़े को शकुंतला के सुंदर रूप का ज्ञान नहीं है। इससे जान पड़ा कि जिन आँखों की ठगौरी में यह राजा बेसुध हुआ है उनकी छाया इस पर कभी नहीं पड़ी।

दुष्यंत—भला बतलाओ तो इन चित्रों में से तुम किसको शकुंतला मानते हो।

माढव्य—(चित्रों को देखकर) सोच लूँ तब बतलाऊँगा। तो यही शकुंतला है जिसका शरीर थका हुआ दिखलाई देता है, वस्त्र ढीले हैं, बाँह शिथिलाई से गिरी पड़ती हैं, पसीने की बूँदें मुख पर ढलक रही हैं, अलकों से फूल गिरते हैं और इस डहडहे आम के नीचे चौकी पर बैठी है। यही महारानी होंगी और आसपासवाली सखी सहेली होंगी।

दुष्यंत—माढव्य तू बड़ा प्रवीण है परंतु देख अभी इस चित्र में कुछ कसर है। देखो रंग अच्छा नहीं भरा है,

नहीं तो गालों पर आँसू की सी बूँद न गिरती। मैंने प्यारी को विलाप करते देखना नहीं चाहा था। (चित्र बनानेवाली से) हे चतुरिका, अभी यह चित्र पूरा नहीं बना है जा फिर चित्रालय से बनाने की वस्तु ले आ।

चतुरिका—माढव्य तुम कृपा करके चित्र लिए रहो तब तक मैं महाराज की आज्ञा बजा लाऊँ।

दुष्यंत—नहीं तुम जाओ हमीं लिए रहेंगे (राजा ने चित्र ले लिया और चतुरिका गई)

माढव्य—(आप ही आप) तुम तो निर्मल जल की भरी नदी को छोड़ मृगतृष्णा को दौड़ते हो। (प्रगट) महाराज इसमें क्या कसर है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) मेरे जान तो अब राजा उन बातों को भी लिखावेगा जिनसे तपोवन में शकुंतला के रहने का स्थान सुशोभित था।

दुष्यंत—सुनो सखा, मैं चाहता हूँ कि इस चित्र में मालिनी नदी बनाई जाय, उसकी रेती में हंसों के जोड़े चुगते दिखाई दें, फिर आगे बढ़कर हिमालय पर्वत की तराई लिखी जाय जिसमें हरिनों के झुंड चरते हों और एक ओर वृक्ष खड़ा हो। उस वृक्ष की डालियों पर छाल के वस्त्र धूप में सूखते हों और एक हरिणी खड़ी अपनी बाईं आँख को धीरे धीरे करसायल के सींगों से खुजा रही हो।

माढव्य—तुम चाहो सो लिखा लो मेरे जान तो जितनी ठौर बिना लिखी रही है इसमें मुझी सी कुबड़ी तपस्विनी लिखानी चाहिए।

दुष्यंत—(उसकी बात पर ध्यान न करके) मैं यह कहना भूल ही गया कि प्यारी के चित्र में कुछ आभूषण भी लिखने चाहिएँ।

माढव्य—कैसे।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) ऐसे जैसे वनयुवतियों के होते हैं।

दुष्यंत—देखो चित्र बनानेवाली प्यारी के कान पर शिरस का गुच्छा रखना और कपोलों पर फूलों का झुप्पा लटकाना भूल गई है और छाती पर शरच्चंद्र की किरण के समान कोमल कमल की डाँड़ियों का हार भी बनाना रह गया है।

माढव्य—मित्र, यह रानी अपने आधे मुख को पंकज सी हथेली से छुपाये चकित सी क्यों हो रही है। आहा! मैं जान गया एक भौंरा मुख को कमल जान बैठा चाहता है।

दुष्यंत—इस धृष्ट भौंरे को दूर करो।

माढव्य—महाराज, सब धृष्टों को दंड देने की सामर्थ्य आप ही को है।

दुष्यंत—अरे भौंरे, तू तो फूली लताओं का पाहुना है। तू यहाँ अनादर होने क्यों आया। देख वहाँ जा जहाँ तेरी

भौंरी भूखी प्यासी फूल पै बैठी बाट हेर रही है। बिना तेरे रस नहीं लेती।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) यह वचन तो निरादर का है परंतु अच्छा कहा।

माढव्य—महाराज, भौंरे की ढिठाई तो प्रसिद्ध है।

दुष्यंत—(रिस होकर) रे भौंरे, जो तू मेरी प्यारी के होठों को छुएगा तो कमल के उदर की बंधि में डाला जायगा। नहीं मानेगा।

माढव्य—जब तुमने ऐसा कड़ा दंड कहा तो क्यों न मानेगा। (हँसकर आप ही आप) यह तो सिड़ी हो गया है। इसके साथ रहने से मेरी भी दशा इसी की सी हुई जाती है।

दुष्यंत—अरे मैं आज्ञा दे चुका फिर भी तू नहीं हटता।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) प्रीति की अधिकाई में चतुर मनुष्य भी मूर्ख हो जाते हैं।

माढव्य—सखा, यह चित्र का भौंरा है।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) आहा, इसका इतना बेसुध होना यह चित्रविद्या की निपुणता का गुण है।

दुष्यंत—हे निर्दयी, मैं तो प्राणप्यारी के दर्शन का सुख लेता था। तूने क्यों सुध दिलाई कि यह चित्र है। (रोता हुआ)

मिश्रकेशी—(आप ही आप) वियोगियों की यही दशा होती है, अब इसको सब ओर कंटक ही दिखाई देते हैं।

दुष्यंत—अब मैं इस भारी व्यथा को कैसे सहूँ। जो चाहूँ कि प्यारी से स्वप्न में मिलूँ तो नींद नहीं आती और चित्र में देखकर मन बहलाऊँ तो आँसू नहीं देखने देते।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) शकुंतला के त्यागने का कलंक राजा के सिर से अब इस विलाप ने धो दिया।

(चतुरिका फिर आई)

चतुरिका—महाराज, जब मैं रंगों का डिब्बा लेकर चली तभी—

दुष्यंत—(शीघ्रता से) तब क्या हुआ।

चतुरिका—तभी महारानी वसुमती पिंगला को साथ लिए आई और मेरे हाथ से डिब्बा छीनकर कहा कि डिब्बा ला, इसे मैं ही महाराज को चल कर दूँगी।

माढव्य—भला हुआ जो तू बच आई।

चतुरिका—रानी का वस्त्र एक काँटे के वृक्ष में अटक गया उसे छुड़ाने में पिंगला लगी तब तक मैं निकल आई।

दुष्यंत—हे सखा माढव्य, मैं रानी वसुमती का मान बहुत रखता हूँ इससे गर्वित हो गई है। अब चित्र छुपाने का उपाय कर।

माढव्य—(आप ही आप) तुम्हीं छुपा लो तो अच्छा है (यह कहता चित्र लेकर उठा) (प्रगट) जो तुम मुझे रनवास की ऊँची भीत पर चढ़ा दो तो इस चित्र को ऐसा छुपाऊँ कि कोई न देख सके। (बाहर गया)

मिश्रकेशी—(आप ही आप) आहा राजा अपने धर्म्म को कैसा पहचानता है कि यद्यपि दूसरी पर आसक्त है तो भी अपने अगले वचन का निर्वाह करता है।

(एक द्वारपाल पत्र हाथ में लिए आया)

द्वारपाल—महाराज की जय हो।

दुष्यंत—द्वारपाल, तुमने इस समय महारानी वसुमती को तो नहीं देखा है।

द्वारपाल—हाँ महाराज मुझे मिली तो थीं परन्तु मेरे हाथ में चिट्ठी देखकर उलटी लौट गईं।

दुष्यंत—रानी समय को पहचानती है और मेरे राज काज में विघ्न डालना नहीं चाहती।

द्वारपाल—महाराज मंत्री ने यह विनती की है कि आज मुझको रुपया सम्हारने के काम से अवकाश न था इसलिये केवल एकही पुरकार्य किया है सो बहुत सावधानी से इस पत्र में लिख दिया है कि आप कृपा करके देख लें।

दुष्यंत—पत्र मुझे दो। (पत्र लेकर पढ़ने लगा) महाराज के चरणों में यह निवेदन है कि धनवृद्ध नाम एक बड़ा साहूकार था। उसका बेटा मारा गया और वह भी समुद्र में डूब गया। कोई पुत्र उसके नहीं है। और धन बहुत छोड़ा है। महाराज की आज्ञा हो तो वह धन राजभण्डार में रक्खा जाय। (शोक से) आह, निपुत्री होना मनुष्य को कैसी बुरी बात है। परन्तु जिसके इतना धन था उसके स्त्री

भी बहुत होंगी। इसलिये पहले यह पूछ लेना चाहिए कि उन स्त्रियों में से कोई गर्भवती है या नहीं।

द्वारपाल—मैंने सुना है कि उसके एक स्त्री साकेतक सेठ की बेटी के इन दिनों गर्भाधान के संस्कार हुए हैं।

दुष्यंत—गर्भ का बालक अपने पिता के धन का अधिकारी होता है। जाओ मंत्री से हमारी यह आज्ञा कह दो।

द्वारपाल—जो आज्ञा। (बाहर गया)

दुष्यंत—ठहरो तो।

द्वारपाल—(फिर आकर) आया।

दुष्यंत—चाहे साहूकार के संतान हो चाहे न हो। उसका धन राज में लगाना न चाहिए। जाओ यह ढँढोरा नगर में कर दो कि मेरी प्रजा में जिस किसी को किसी प्यारे बांधव का वियोग हो वह दुष्यंत को अपना धर्म का बांधव समझे।

द्वारपाल—यही ढँढोरा हो जायगा। (बाहर गया)

(दुष्यंत सोच में बैठा हुआ)

(द्वारपाल फिर आया)

द्वारपाल—महाराज, आपकी आज्ञा की नगर में बड़ी बड़ाई हुई।

दुष्यंत—(गहरी सांस भरकर) जब कोई बड़ा मनुष्य बिना संतान मरता है तो उसकी संपत्ति यों ही बिराने घर जाती है। यही वृत्तांत किसी दिन पुरुवंशियों के संचय किए धन का होना है।

द्वारपाल—ईश्वर ऐसा अमंगल न करे। (बाहर गया)

दुष्यंत—धिक्कार है मुझे कि मैंने प्राप्त हुए सुख को लात मारी।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) निश्चय इसने यह अपनी निंदा अपने जी से की होगी।

दुष्यंत—हाय मैं बड़ा अपराधी हूँ कि मैंने अपनी धर्मपत्नी को जो किसी दिन पुरुवंश की प्रतिष्ठा होती ऐसे त्याग दिया, जैसे कोई अपनी बोई धरती को फल आने के समय छोड़ दे।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) उसने तो नहीं छोड़ दिया, क्या आश्चर्य है कि वह फिर तुझे मिले।

चतुरिका—(आप ही आप) मंत्री निर्दयी ने उत्पात का भरा पत्र भेज राजा की क्या दशा कर दी है। देखो आँसुओं से बहा जाता है।

दुष्यंत—हाय ! मेरे पितरों को नित्य यह खटका लगा रहता होगा कि जब दुष्यंत संसार से उठ जायगा तब कौन हमको पिंड देगा। मेरे पीछे कौन इस वंश के श्राद्धादिक करेगा। हाय ! अब तक तो मेरे कुल के निपुत्री पितरों को मेरे हाथ से वस्त्र का निचोड़ा जल तो भी मिल जाता था, फिर यह भी न मिलेगा।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) राजा की आँखों पर इस समय मोह का ऐसा अंचल पड़ा है मानों सुंदर दीपक की ज्योति में अँधेरा सूझे।

चतुरिका—महाराज इतना शोक न कीजिए अभी आपकी तरुण अवस्था है। आपकी रानियों के आप ही से यशस्वी पुत्र होंगे और आपके पितरों को दुख न मिलने देंगे।

दुष्यंत—(दुःख से) पुरु का वंश अब तक तो फला फूला और शुद्ध रहा परन्तु अब मुझे प्राप्त होकर समाप्त हुआ, जैसे सरस्वती नदी ऐसे देश में जो उसकी पवित्र धारा के बहने योग्य न था जाकर लोप हुई है।

(मूर्छित हो गया)

चतुरिका—(आप ही आप) महाराज सावधान हूजिए।

मिश्रकेशी—(आप ही आप) मैं चलकर सँभालूँ, नहीं, आप ही चैतन्य हो जायगा। मैंने देवजननी अप्सरा को शकुंतला से यह कहते सुना था कि जैसे देवता अपना यज्ञभाग पाकर प्रसन्न हो जाते हैं तू भी अपने पति के स्नेह से शीघ्र ही आनन्द पावेगी।

(उठकर चली गई)

(नेपथ्य में) क्या ब्राह्मण की रक्षा करनेवाला कोई नहीं रहा।

दुष्यंत—(सावधान होकर और कान लगाकर) आहा यह कौन माढव्य सा दुहाई दे रहा है, कोई है, कोई है।

चतुरिका—हो न हो रानी की पिंगला इत्यादि सहेलियों ने उसको चित्र हाथ में लिए आ पकड़ा है।

दुष्यंत—चतुरिका तू जा मेरी ओर से रानी को ललकार-कर कह दे कि अपनी सखियों को क्यों नहीं बरजती है।

चतुरिका—जो आज्ञा महाराज की। (बाहर गई)

(फिर नेपथ्य में) मैं ब्राह्मण हूँ मेरे प्राण मत ले।

दुष्यंत—निश्चय यह कोई ब्राह्मण आपत्ति में फँसा है। है रे कोई यहाँ।

(बूढ़ा चोबदार आया)

चोबदार—महाराज की क्या आज्ञा है।

दुष्यंत—देखो माढव्य का गला किसने पकड़ा है।

चोबदार—अभी समाचार लाता हूँ।

(बाहर गया और फिर काँपता हुआ आया)

दुष्यंत—कहो पर्वतायन क्या है।

चोबदार—महाराज बड़ा उत्पात है।

दुष्यंत—तू काँपता क्यों है। बुढ़ापे में मनुष्य की क्या गति हो जाती है। डर से बूढ़े मनुष्य का शरीर ऐसे थर-थराता है जैसे पवन लगने से पीपल का वृक्ष।

चोबदार—अपने सखा को छुड़ाओ।

दुष्यंत—छुड़ाऊँ काहे में से।

चोबदार—आपत्ति में से।

दुष्यंत—क्या कहते हो।

चोबदार—वह भीत जिससे आकाश के चारों कोने दिखाई देते हैं और बादलों के मिले रहने से मेघाच्छन्न कहलाती है—

दुष्यंत —सो क्या !

चोबदार—उस भीत की मुडेल से जहाँ नीलग्रीव कपोत का भी पहुँचना कठिन है एक पिशाच ऐसा आया कि किसी की दृष्टि न पड़ी और आपके सखा को ले जाकर उसी भीत पर उसने रख दिया।

दुष्यंत—(तुरंत उठकर) हैं मेरे रनवास में भी पिशाच रहते हैं। सत्य है राजा को अनेक विघ्न होते हैं। राजा उन उत्पातों को भी नहीं जानता है जो उसी के अधर्म्म से प्रति दिन और प्रति छिन राजभवन में हुआ करते हैं। फिर वह क्यों-कर जान सकता है कि मेरी प्रजा सुमार्ग में चलती है या कुमार्ग में और जब राजा के कर्म आपही निरंकुश हों तो वह प्रजा के कर्मों को किस भाँति सुधार सकता है।

(नेपथ्य में) चलियो, चलियो।

दुष्यंत—(सुनता और दौड़ता हुआ) डरो मत, मित्र कुछ भय नहीं है।

(नेपथ्य में) भय क्यों नहीं है भूत तो मेरा कंठ पकड़े कलेजा ऐंठे डालता है।

दुष्यंत—(चारों ओर देखता हुआ) है रे कोई मेरा धनुष लावे।

(एक द्वारपाल राजा का धनुष बाण लेकर आया)

द्वारपाल—महाराज धनुष यह है। (दुष्यंत ने धनुष बाण ले लिया)

(नेपथ्य में) तेरे कंठ के लोहू का प्यासा मैं तुझे ऐसे पछाड़ूँगा जैसे सिंह पशु को मारता है, अब बतला दुखियों की रक्षा के लिये धनुष धारण करनेवाला दुष्यंत कहाँ है जो तुझे बचावे।

दुष्यंत—(क्रोध से) यह पिशाच तो मुझे भी चिनोती देता है। अरे नीच, खड़ा रह, मैं आया। अब तेरी मृत्यु समीप पहुँची। (धनुष चढ़ाकर) पर्वतायन छत्त की गैल बताओ।

द्वारपाल—गैल यह है, महाराज।

(सब तुरंत बाहर गए)

(स्थान—एक बड़ी चौड़ी छत)

(दुष्यंत आया)

दुष्यंत—(चारों ओर देखकर) हैं! यहाँ तो कोई नहीं है।

(नेपथ्य में) बचाओ, कोई मुझे बचाओ, महाराज मैं तो तुम्हें देखता हूँ। तुम्हीं मुझे नहीं देख सकते हो। इस समयमैं ऐसा हो रहा हूँ जैसे बिलाव का ग्रसा चूहा।

दुष्यंत—मुझे तू नहीं सूझता है तो क्या हुआ। जिस अंतर्द्धान विद्या के बल से बैरी ने तुझे लोप कर रक्खा है उसको मिटाकर मेरा बाण बैरी को देख लेगा। माढव्य सावधान रहो। आ तू अरे पिशाच, मेरे शरणागत को न मार सकेगा। देख अब मैं यह बाण चढ़ाता हूँ। यह तुझे बेधकर ब्राह्मण

को ऐसे बचा लेगा जैसे हंस पानी में से दूध को निकाल लेता है।

(धनुष ताना)

(मातलि और माढव्य आए)

मातलि—महाराज इन बाणों के लिये आपके मित्र इंद्र ने असुर बता दिए हैं। उन्हों पर धनुष खैंचो। मित्रों पर स्नेह की दृष्टि चाहिए।

दुष्यंत—(चकित होकर अस्त्र रख लिया) आहा इंद्र के सारथी तुम भले आए।

माढव्य—हैं! यह तो बधिक की भाँति मुझे मारे डालता था, आप इसका आदर करते हो।

मातलि—(मुसक्याकर) महाराज मैं इंद्र का सँदेसा लेकर आया हूँ सो सुन लो।

दुष्यंत—कहो मैं कान लगाकर सुनता हूँ।

मातलि—कालनेमि के वंश में दानवों का ऐसा एक गण प्रबल हुआ है कि उसका जीतना इंद्र को कठिन हो रहा है।

दुष्यंत—यह तो मैंने आगे ही नारद से सुन लिया है।

मातलि—ऐसे शत्रुवंश को जब सौ यज्ञ करनेवाला देवनायक न जीत सका तब जैसे सूर्य्य रैन का अंधकार मिटाने को असमर्थ होकर चंद्रमा से सहायता लेता है तैसे ही तुमको अपना मित्र जान बुलाया है, सो महाराज इस रथ पर चढ़ो और धनुष लेकर विजय को चलो।

दुष्यंत—देवराज ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है। इससे मैं सनाथ हुआ। परंतु तुम यह कहो कि मेरे सखा माढव्य को तुमने इतना क्यों सताया।

मातलि—आपको बहुत उदास देखकर चैतन्य करने के लिये मैंने रोष दिखलाया था। क्योंकि जैसे काठ गिरने से अग्नि का तेज बढ़ता है और छेड़ने से सर्प फण उठाता है, ऐसे ही तेजस्वी पुरुष छोह दिलाने से पराक्रम दिखाते हैं।

दुष्यंत—(माढव्य से हौले) हे सखा, देवपति की आज्ञा उल्लंघन योग्य नहीं है। इससे तुम जाकर यह समाचार मंत्री को सुना दो और कहो कि जब तक मेरा धनुष दूसरे कार्य में प्रवृत्त रहे तब तक अपनी बुद्धि से प्रजा की रक्षा करे।

माढव्य—यह तो कह दूँगा परन्तु मेरा गला घोंटे बिना मातलि अपना सँदेसा भुगता देता तो इसका क्या बिगड़ता।

मातलि—रथ पर चढ़ो महाराज। (दुष्यंत रथ पर चढ़ा और मातलि ने रथ हाँका)

अंक ७

स्थान—आकाश के बादल

(इंद्र का कार्य करके दुष्यंत और मातलि रथ पर चढ़े आकाश से उतरते हुए)

दुष्यंत—हे मातलि, मैंने इंद्र की आज्ञा पाली सो यह बात तो कुछ ऐसी बड़ी न थी जिसके लिये मुझे इतनी प्रतिष्ठा मिली।

मातलि—(हँसकर) दोनों को यही संकोच है। आपने इंद्र के साथ इतना बड़ा उपकार किया है तो भी तुच्छ ही मानते हो ऐसे ही आपके करतब के सामने देवराज लज्जित हो रहे हैं।

दुष्यंत—ऐसो मत कहो। इन्द्र ने मेरा बड़ा सत्कार किया कि मुझे अपनी आधी गद्दी पर देवताओं के देखते जगह दी और अपने पुत्र जयंत के सामने जिसे इस बड़ाई के मिलने की अभिलाषा थी मेरे हृदय पर हरिचंदन लगाकर गले में मंदार की माला डाली।

मातलि—हे राजा, इन्द्र से आप किस किस सत्कार के योग्य नहीं हो। स्वर्ग को देा ही ने दैत्यों के कंटक से छुड़ाया है। एक तो आगे नरसिंह के नखों ने और अब आपके तीक्ष्ण बाणों ने।

दुष्यंत—हमको यह यश उन्हीं देवनायक की कृपा से मिला है, क्योंकि संसार में जब कोई बड़ा कार्य्य आज्ञाकारियों

से बन पड़ता है तो स्वामियों की बड़ाई का पुण्य समझा जाता है। क्या अरुण की सामर्थ्य थी कि रात्रि के अंधकार को दूर करता, कदाचित् सूर्य अपने आगे उसको रथ पर आसन न देता।

मातलि—आपको ऐसा ही कहना उचित है। (रथ को हौले हौले चलाया) हे राजा, अपने स्वर्ग तक प्राप्त हुए यश की गुरुता देखो। जिन रंगों से सुर-सुंदरी अंगराग करती हैं उन्हीं से देवता आपके चरितों को कल्पलता के पत्तों पर स्वर्ग के गाने योग्य गीतों में लिख रहे हैं।

दुष्यंत—(नम्रता से) हे मातलि, दानवों को जीतने के उत्साह में इधर से जाते हुए मैंने इस शुभ स्थान को भली भाँति नहीं देखा था। अब तुम कहो इस समय पवन के कौन से मार्ग में चलते हैं।

मातलि—यह वही मार्ग है जिसमें आकाश-गंगा के तट पर सूर्य चलता है और सब तारागण घूमते हैं। यह मार्ग परिवह पवन का है जो नक्षत्र ग्रहों का आधार है और यही मार्ग विष्णु का दूसरा पैंड़ था जब कि हरि ने अहंकारी बलि को छला था।

दुष्यंत—यह शोभा देख मेरे रोम रोम प्रसन्न हो गए हैं। (पहियों को देखकर) अब हम मेघों के मार्ग में चलते हैं।

मातलि—यह आपने क्योंकर जाना।

दुष्यंत—रथ ही कहे देता है कि अब हम जल भरे बादलों में चलते हैं क्योंकि पहिये भीगे हैं और इन्द्र के घोड़ों के अंग

बिजली से चमकते हैं। मैं देखता हूँ कि कोलाहल करते हुए चातक ऊँचे ऊँचे पहाड़ों की चोटियों से अपने घोंसले छोड़ छोड़ नीचे उतरते हैं।

मातलि—ठीक है, अभी एक क्षण में आप अपने राज्य में पहुँचते हो।

दुष्यंत—(नीचे को देखकर) स्वर्ग के घोड़ों के वेग से उतरने में यहाँ समस्त अचरज सा दिखाई देता है। अभी पृथ्वी यहाँ से इतनी दूर है कि पहाड़ के शिखर और घाटों में कुछ अंतर नहीं जान पड़ता। वृक्ष पत्रहीन से दृष्टि आते हैं, नदियाँ श्वेत रेखा के समान दीखती हैं, भूमण्डल ऐसा सूझता है मानों किसी बली ने ऊपर को गेंद बनाकर उछाल दिया है।

मातलि—(पृथ्वी को आदर से देखकर) हे राजा, देखो मनुष्यलोक कैसा वैभवमान दिखाई देता है।

दुष्यंत—मातलि बतलाओ तो यह कौन सा पहाड़ है जो पूर्व और पश्चिम समुद्रों के बीच में सोने का सा कटिबन्ध दिखाई देता है और संध्या के मेघ के समान सुवर्ण की सी धारा बरसाता है।

मातलि—महाराज, यह गंधर्वों का हेमकूट नाम पर्वत है। सृष्टि में इससे उत्तम कोई स्थान तपस्या सिद्ध करने के लिये नहीं है। इसी में मरीचि का पुत्र, ब्रह्मा का पौत्र, देव दानवों का पित्र कश्यप अपनी स्त्री अदिति समेत तपस्या कर रहा है।

दुष्यंत—(श्रद्धा से) कल्याण प्राप्त करने का यह अवसर चूकने योग्य नहीं है। आओ उनको प्रणाम करके चलेंगे।

मातलि—बहुत अच्छा। यह विचार आपका अति उत्तम है। अब हम पृथ्वी पर आ गये।

दुष्यंत—(आश्चर्य्य से) रथ के पहियों की कुछ भी आहट न हुई, न कुछ धूलि उड़ी, न उतरने में थकावट हुई।

मातलि—हे राजन्, आपके और इंद्र के रथ में इतना ही अंतर है।

दुष्यंत—कश्यप का आश्रम कहाँ है।

मातलि—(हाथ से दिखलाकर) जहाँ यह योगी अचल ठूँठ की भाँति सूर्य की ओर ध्यान लगाए बैठा है उससे थोड़ी दूर पर कश्यप का स्थान है। हे राजन्, आप देखो इस तपस्वी के आधे शरीर पर बाँबी चढ़ गई है और जनेऊ की ठौर साँप की केचुली पड़ी है। कंठ के आस पास सूखी लता लपट रही हैं, लटों में पक्षियों ने घोंसले बना लिए हैं।

दुष्यंत—ऐसे उग्र तपस्वी को नमस्कार है।

मातलि—(घोड़ों की रास खैंचकर) बस यहाँ से आगे रथ न जाना चाहिए, अब हम उस स्थान पर आ गए हैं जहाँ स्वर्ग की नदी ऋषि के बन को सींचती है।

दुष्यंत—यहाँ इंद्रलोक से भी अधिक सुख है। इस समय मेरा ध्यान ऐसा बँध रहा है मानों अमृत के कुण्ड में नहाता हूँ।

मातलि—(रथ को ठहराकर) महाराज अब उतर लीजिए।

दुष्यंत—(हर्ष सहित रथ से उतरकर) तुम रथ को छोड़कर कैसे चलोगे।

मातलि—इसका मैंने यत्न कर दिया है। आपसे आप यहाँ खड़ा रहेगा। चलिए मैं भी आपके साथ चलूँगा। महाराज इस मार्ग आओ और बड़े महात्मा तपस्वियों के स्थान देखो।

दुष्यंत—जैसा आश्चर्य मुझे इन तपस्वियों के देखने से होता है वैसा ही इनके पवित्र आश्रम के दर्शन से सुख मिलता है। सत्य है शुद्ध जीवों को यही योग्य है कि कल्पवृक्षों के बन में पवन खाकर प्राण रक्खें, जिन नदियों का जल कनक-कमल के पराग से पीला दिखाई देता है उनमें स्नान सन्ध्या करें, जिन शिलाओं के टुकड़ों से रत्न बनते हैं उन पर बैठकर ध्यान लगावें, अपनी इन्द्रियों को ऐसा वश में रक्खें कि कदाचित् कोई बड़ी रूपवती अप्सरा भी आकर घेरे तो मन न डिगे। जिन पदार्थों के लिये बड़े बड़े मुनीश्वर तप करते हैं सो इस आश्रम में प्राप्त हैं।

मातलि—सत्पुरुषों की अभिलाषा सदा उत्तम से उत्तम वस्तु पाने के लिये बढ़ती रहती है। (एक ओर को फिरकर) कहो वृद्ध सांकल्य इस समय महात्मा कश्यप ऋषि क्या कर रहे हैं। क्या दक्ष की बेटी ने जो पातिव्रत धर्म पूछा था उनसे संभाषण करते हैं।

दुष्यंत—तो अभी कुछ ठहरना चाहिए।

मातलि—(राजा की ओर देखकर) आप इस अशोक वृक्ष की छाया में विश्राम करिए तब तक मैं आपके आने का सँदेसा अवसर देखकर इंद्र के पिता से कह आऊँ।

दुष्यंत—बहुत अच्छा। (मातलि गया और दुष्यंत की दाहिनी भुजा फड़की)

दुष्यंत—हे भुजा, अब तू वृथा शकन क्यों दिखाती है। मेरे पहले सब सुख मिटकर केवल दुःख रह गए हैं।

(नेपथ्य में) अरे ऐसी चपलता क्यों करता है। क्यों तू अपनी बान नहीं छोड़ता।

दुष्यंत—(कान लगाकर) हैं ऐसे स्थान में ताड़ना का क्या काम है। वह सीख किसको हो रही है। (जिधर बोल सुनाई दिया उधर देखकर और आश्चर्य्य करके) आहा यह किसका पराक्रमी बालक है जिसे दो तपस्विनी रोकती हैं तो भी खेल में नाहर के भूखे बच्चे को खैंचे लाता है।

(सिंह के बच्चे को घसीटता हुआ एक बालक आया और उसके साथ दो तपस्विनी आईं)

बालक—अरे सिंह तू अपना मुँह खोल मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

एक तपस्विनी—ऐ हठीले बालक तू इस बन के पशुओं को क्यों सताता है। हम तो इनको बाल-बच्चों के समान रखती हैं। तेरा खेल में भी साहस नहीं जाता। इसी से तेरा नाम ऋषि ने सर्वदमन रक्खा है।

दुष्यंत—(आप ही आप) आहा क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस लड़के में पुत्र का सा होता आता है। हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू इस बच्चे को छोड़ न देगा तो सिंहिनी तुझ पर दौड़ेगी।

बालक—(मुसक्याकर) ठीक है सिंहिनी का मुझे ऐसा ही डर है। (रोष में आकर होठ काटने लगा)

दुष्यंत—(आप ही आप चकित सा होकर) यह बालक किसी बड़े बली का वीर्य है। इसका रूप उस अग्नि के समान है जो सूखा काठ मिलने से अति प्रज्वलित होती है।

प० तपस्विनी—हे बालक, सिंह के बच्चे को छोड़ दे। मैं तुझे उससे भी सुंदर खिलौना दूँगी।

बालक—पहले खिलौना दे दो। लाओ कहाँ है। (हाथ पसारकर)

दुष्यंत—(लड़के के हाथ को देखकर आप ही आप) आहा इसके हाथ में तो चक्रवर्ती के लक्षण हैं। उँगलियों पर कैसा अद्भुत जाल है और हथेली की शोभा प्रातःकमल को भी लज्जित कर रही है।

दू० तपस्विनी—हे सखी सुव्रता, यह बातों से न मानेगा, जा तू कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषिकुमार शंकर के खेलने का रक्खा है सो ले आ।

प० तपस्विनी—मैं अभी लिए आती हूँ। (गई)

बालक—तब तक मैं इसी सिंह के बच्चे से खेलूँगा।

दू० तपस्विनी—(बालक की ओर देखकर और मुसक्याकर) तेरी बलैया लूँ, अब तू इसे छोड़ दे।

दुष्यंत—(आप ही आप) इस लड़के के खिलाने को मेरा जी कैसा चाहता है। (आह भरकर) धन्य हैं वे मनुष्य जो अपने पुत्रों को कनियाँ लेकर उनके अंग की धूलि से अपनी गोद मैली करते हैं और पुत्रों के मुख निष्कारण हँसी से खुलकर उज्ज्वल दाँतों की शोभा दिखाते और तुतले वचन बोलते हैं।

दू० तपस्विनी—(उँगली उठाकर) क्यों रे ढीठ तू मेरी बात कान नहीं धरता है। (इधर उधर देखकर) कोई ऋषि यहाँ है। (दुष्यंत को देखा) अहो, परदेसी, आओ, कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंह के बच्चे को छुड़ाओ।

दुष्यंत—अच्छा (लड़के के पास जाकर और हँसकर) हे ऋषिकुमार, तुमने तपोवन के विरुद्ध यह आचरण क्यों सीखा है जिससे तुम्हारे कुल को लाज आती है। यह तो काले साँप ही का धर्म है कि मलयगिरि से लिपटकर उसे दूषित करे। (लड़के ने सिंह को छोड़ दिया)

दू० तपस्विनी—हे बटोही, मैंने तुम्हारा बहुत गुन माना परंतु जिसको तुम ऋषिकुमार कहते हो सो ऋषि का बालक नहीं है।

दुष्यंत—सत्य है इसके काम ऐसे ही साहस के हैं। यह ऋषिपुत्र नहीं जान पड़ता। परंतु मैंने तपोवन में इसका वास

देख ऋषिपुत्र जाना। (लड़के का हाथ हाथ में लेकर आप ही आप) आहा जब इसका हाथ छूने से मुझे इतना सुख हुआ है तो जिस बड़भागी का यह बेटा है उसको कितना हर्ष होता होगा।

दू० तपस्विनी—(दोनों की ओर देखकर) बड़े अचंभे की बात है।

दुष्यंत—तुमको क्यों अचंभा हुआ।

दू० तपस्विनी—यह अचंभा है कि इस बालक का तुम्हारा कुछ संबंध नहीं है तो भी तुम्हारी इसकी उनहार बहुत मिलती है और दूसरे यह अचंभे की बात है कि यह तुमको आगे से नहीं जानता था और अभी इसकी बुद्धि भी बालक है तो भी तुम्हारी बात इसने क्यों तुरंत मान ली।

दुष्यंत—(लड़के को गोद में उठाकर) हे तपस्विनी, जो यह ऋषिपुत्र नहीं है तो किसका वंश है।

दू० तपस्विनी—यह पुरुवंशी है।

दुष्यंत—(आप ही आप) इसी से मेरी इसकी उनहार मिलती है। (उसको गोद से उतारकर) (प्रगट) पुरुवंशियों में यह रीति तो निश्चय है कि युवा अवस्था भर रनवास में रहकर पृथ्वी की रक्षा और पालन करते हैं फिर जब वृद्धपन आता है, वानप्रस्थ आश्रम लेकर जितेंद्रिय तपस्वियों के आश्रम में वृक्षों के नीचे कुटी बनाकर रहते हैं, परंतु मुझे आश्चर्य

यह है कि इस बालक के देवता के से चरित्र हैं, यह मनुष्य का वीर्य क्योंकर होगा।

दू० तपस्विनी—हे परदेशी, तेरा सब संदेह तब मिट जायगा जब तू जान लेगा कि इस बालक की मा एक अप्सरा की बेटी है।

दुष्यंत—(आप ही आप) यह तो बड़े आनंद की बात सुनाई। इससे कुछ और आशा बढ़ी। (प्रगट) इसकी माता का पाणिग्रहण किस राजर्षि ने किया है।

दू० तपस्विनी—जिस राजा ने अपनी विवाहिता स्त्री को बिना अपराध छोड़ दिया है उसका नाम मैं न लूँगी।

दुष्यंत—(आप ही आप) यह कथा तो मुझी पर लगती है। भला अब इस बालक की माँ का नाम पूछूँ। (सोचकर) परन्तु सत्पुरुषों की रीति नहीं है कि पराई स्त्री का वृत्तांत पूछें।

(पहली तपस्विनी खिलौना लेकर आई)

प० तपस्विनी—हे सर्वदमन, देख यह कैसा शकुंतला-लावण्य है।

बालक—(बड़े चाव से देखकर) कहाँ है शकुंतला मेरी माता।

दो० तपस्विनी—(हँसती हुई) यहाँ तेरी माता नहीं है। हमने दुअर्थी बात कही थी अर्थात् सुंदर पक्षी दिखाया था।

दुष्यंत—(आप ही आप) इसकी माँ मेरी ही प्यारी शकुंतला है या इस नाम की कोई दूसरी स्त्री है। यह वृत्तांत मुझे ऐसा व्याकुल करता है जैसे मृगतृष्णा प्यासे हरिन को निराश करती है।

बालक—जो यह मोर चले फिरेगा और उड़ेगा तो मानूँगा, नहीं तो नहीं।

प० तपस्विनी—(घबराकर) अहा, बालक की बाँह से रक्षाबंधन कहाँ गया। (खिलौना ले लिया)

दुष्यंत—घबराओ मत, जब यह नाहर से खेल रहा था तब इसके हाथ से गंडा गिर गया था सो वह पड़ा है। मैं उठाकर तुम्हें दिए देता हूँ। (उठाना चाहा)

दो० तपस्विनी—हैं हैं, इस गंडे को छूना मत।

प० तपस्विनी—हाय, इसने तो उठा ही लिया। (दोनों आपस में अचंभे से देखने लगीं)।

दुष्यंत—गंडा यह लो परंतु यह कहो कि तुमने मुझे इसके छूने से रोका क्यों था।

दू० तपस्विनी—इसलिये रोका था कि इस यंत्र में बड़ी शक्ति है। जिस समय इस बालक का जातकर्म्म हुआ था तब महात्मा मरीचि के पुत्र कश्यप ने यह गंडा दिया था। इसमें यह गुण है कि कदाचित् धरती पर गिर पड़े तो इस बालक के माँ बाप को छोड़ दूसरा कोई न उठा सके।

दुष्यंत—और जो कोई उठा ले तो क्या हो।

प० तपस्विनी—तो यह तुरंत साँप बनकर उसको डसे।

दुष्यंत—तुमने कभी ऐसा होते देखा है।

दो० तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यंत—(प्रसन्न होकर) तो अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ। (लड़के को गोद में ले लिया)।

दू० तपस्विनी—आओ सुव्रता ये सुख के समाचार चलके शकुंतला को सुनावें। वह बहुत दिनों से वियोग के कठिन नेम कर रही है।

(दोनों बाहर गईं)

बालक—छोड़ो, छोड़ो, मैं अपनी माता के पास जाऊँगा।

दुष्यंत—हे पुत्र तू मेरे संग चलकर अपनी माता को सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तो दुष्यंत है, तुम दुष्यंत नहीं हो।

दुष्यंत—तेरा यह विवाद भी मुझे प्रतीत कराता है।

(वियोग के वस्त्र धारण किए और जुटे हुए बालों की वेणी पीठ पर डाले शकुंतला आई)।

शकुंतला—(आप ही आप) मैं सुन तो चुकी हूँ कि बालक के गंडे की दिव्य सामर्थ्य का गुण प्रगट हुआ परंतु अपने भाग्य का कुछ भरोसा नहीं है। हाँ इतनी आशा है कि कहीं मिश्रकेशी का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यंत—(हर्ष और शोक दोनों से) क्या योगिनी के वेष में यह प्यारी शकुंतला है जिसका मुख विरह के नियमों

ने पीला कर दिया है और वस्त्र मलिन पहने जटा कंधे पर डाले मुझ निर्दयी का वियोग सहती है।

शकुंतला—(राजा की ओर देखकर और संशय करके) यह क्या मेरा ही प्राणपति है जो वियोग की आँच से ऐसा कुँभला रहा है। जो मेरा पति नहीं है तो कौन है जिसने बालक का हाथ पकड़कर अपना कहा और मुझे दूषण लगाया। वह कौन है जिसको बालक के गंडे ने बाधा न करी।

बालक—(दौड़ता हुआ शकुंतला के पास जाकर) माता यह किसी के कहने से मुझे अपना पुत्र बताता है।

दुष्यंत—हे प्यारी, मैंने तेरे साथ निठुराई तो की परंतु परिणाम अच्छा हुआ कि तैंने मुझे पहचान लिया। जो हुआ सो हुआ अब उस बात को भूल जा।

शकुंतला—(आप ही आप) अरे मन, तू धीरज धर अब मुझे भरोसा हुआ कि मेरे भाग्य ने ईर्षा छोड़ी। (प्रगट) हे आर्य्यपुत्र, मेरी तो यही अभिलाषा है कि तुम प्रसन्न रहो।

दुष्यंत—प्यारी भ्रम में मुझे तेरी सुध न रही थी, सो आज दैव का बड़ा अनुग्रह है कि तू चंद्रमुखी फिर मेरे सम्मुख आई जैसे ग्रहण के अंत में रोहिणी फिर अपने प्यारे कला-निधि से मिलती है।

शकुंतला—महाराज की—(इतना कहते ही गद्गद वाणी होकर आँसू गिरने लगे)।

दुष्यंत—हे सुंदरी, मैंने जान लिया तू जय शब्द कहा चाहती थी, सो आँसुओं ने रोक लिया परंतु मेरी जय होने में अब कुछ संदेह नहीं है, क्योंकि आज तेरे मुखचंद्र का दर्शन मिल गया।

बालक—माता यह पुरुष कौन है।

शकुंतला—बेटा अपने भाग्य से पूछ। (फिर रो उठी)

दुष्यंत—हे सुंदरी, अब तू अपने मन से मेरे अवगुनों का ध्यान बिसरा दे। जिस समय मैंने तेरा अनादर किया मेरा चित्त किसी बड़े भ्रम में था। जब तमोगुण प्रबल होता है बहुधा यही गति मनुष्य की हो जाती है, जैसे अंधे के गले में हार डालो और वह उसको सर्प समझकर फेंक दे।

(यह कहता हुआ पैरों में गिर पड़ा)

शकुंतला—उठो प्राणपति, उठो, मेरे सुख में बहुत दिन विघ्न रहा, परंतु तुम्हारा हित अब तक मुझमें बना है यह बड़े सुख का मूल है। (राजा उठा) मुझ दुखिया की सुध कैसे आपको आई सो कहो।

दुष्यंत—जब विरह-विथा का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा तब सब वृत्तांत कहूँगा। अब तू मुझे अपने सुंदर पलकों से आँसू पोंछने दे जिससे मेरा यह पछतावा दूर हो कि उस दिन मैंने भ्रम में आकर तेरे आँसू देखे अनदेखे किए थे।

(आँसू पोंछने को हाथ बढ़ाया।)

शकुंतला—(अपने आँसू पोंछकर और राजा की उँगली में अँगूठी देखकर) आहा यह वही विसासिन अँगूठी है ।

दुष्यंत—इसी के मिलते मुझे तेरी सुध आई ।

शकुंतला—तो यह बड़े गुण भरी है कि जिससे फिर आपको गई प्रतीति मुझ पर आई ।

दुष्यंत—हे प्यारी, अब तू इसे पहन जैसे ऋतु के चिह्न के लिये पृथ्वी फूल धारन करती है ।

शकुंतला—मुझे इसका विश्वास नहीं रहा है, आपही पहने रहो ।

(मातलि आया)

मातलि—महाराज धन्य है यह दिन कि आपने फिर अपनी धर्मपत्नी पाई और पुत्र का मुख देखा ।

दुष्यंत—मित्रों ही की दया से मेरी अभिलाषा पूरी हुई है, परंतु यह तो कहो कि इस वृत्तांत को इंद्र जानता था या नहीं ।

मातलि—(हँसकर) देवता क्या नहीं जानते हैं । अब आओ महात्मा कश्यप आपको दर्शन देंगे ।

दुष्यंत—प्यारी चलो और सर्वदमन की भी उँगली थामे चलो । महात्मा का दर्शन कर आवें ।

शकुंतला—आपके संग बड़ों के सम्मुख जाने में मुझे लज्जा आती है ।

दुष्यंत—ऐसे शुभ समय में एक संग चलना बहुत उत्तम है। ऐसा सभी करते आए हैं। चलो विलंब मत करो।

(सब आगे को बढ़े)

(सिंहासन पर बैठे हुए कश्यप और अदिति बातें करते हुए दिखाई दिए)

कश्यप—(राजा की ओर देखकर) हे दक्षसुता, तेरे पुत्र की सेना का अग्रगामी मृत्युलोक का राजा दुष्यंत यही है। इसी के धनुष का प्रताप है कि इंद्र का वज्र केवल शोभामात्र रह गया है।

अदिति—इसके लक्षण बड़े राजाओं के से दिखाई देते हैं।

मातलि—(दुष्यंत से) हे राजा, द्वादश आदित्यों के माता पिता आपकी ओर प्यार की दृष्टि से ऐसे देख रहे हैं जैसे कोई अपने पुत्र को देखता है। आप निकट चलो।

दुष्यंत—क्या ये ही दक्ष की पुत्री और मरीचि के पुत्र हैं। ये ही ब्रह्मा के पौत्र पौत्री हैं जिनको उसने सृष्टि के आदि में जन्म दिया था और बारह आदित्यों के पित्र कहलाते हैं। क्या ये वे ही हैं जिनसे त्रिभुवनधनी इंद्र और बावन अवतार उत्पन्न हुए।

मातलि—हाँ ये ही हैं। (दुष्यंत समेत साष्टांग दंडवत् की) हे महात्माओ, राजा दुष्यंत जो अभी तुम्हारे पुत्र वासव की आज्ञा पूरी करके आया है प्रणाम करता है।

कश्यप—अखंड राज्य रहे।

अदिति—तुम रण में अजित हो।

शकुंतला—महाराज मैं भी आपके चरणों में बालक समेत प्रणाम करती हूँ।

कश्यप—हे पुत्री, तेरा स्वामी इंद्र के समान और पुत्र जयंत के तुल्य हो। इससे उत्तम और क्या आशीर्वाद दूँ कि तू पुलोमन की पुत्री शची के सदृश हो।

अदिति—हे पुत्री, तू सदा सौभाग्यवती रहे और यह बालक दीर्घायु होकर तुम दोनों को सुख दे और कुल का दीपक हो। आओ विराजो।

(सब बैठ गए)

कश्यप—(एक एक की ओर देखकर दुष्यंत से) तुम बड़े बड़भागी हो। ऐसी पतिव्रता स्त्री, ऐसा आज्ञाकारी पुत्र और ऐसे तुम आप यह संयोग ऐसा हुआ है मानों श्रद्धा और वित्त और विधि तीनों इकट्ठे हुए।

दुष्यंत—हे महर्षि, आपका अनुग्रह बड़ा अपूर्व है कि दर्शन पीछे हुए मनोरथ पहले ही हो गया। कारण और कार्य्य का सदा यह संबंध है कि पहले फूल होता है तब फल लगता है, पहले मेघ आते हैं तब जल बरसता है, परंतु आपकी कृपा ऐसी है कि पहले ही फल प्राप्त करा देती है।

मातलि—महाराज बड़ों की कृपा का यही प्रभाव है।

दुष्यंत—हे भगवन्, आपकी दासी शकुंतला का विवाह मेरे साथ गंधर्व रीति से हुआ था, फिर कुछ काल बीते अपने मायके के लोगों के साथ वह मेरे पास आई। उस समय

मुझे ऐसी सुध भूल गई कि इसे पहचान न सका और अपनी पत्नी का त्याग करके आपके कुल का अपराधी हुआ। फिर जब यह अँगूठी देखी तब मुझे प्राणप्यारी की सुधि आई और मैंने जाना कि आपके सगोत्री कण्व की बेटी से मेरा ब्याह हुआ था। यह वृत्तांत, हे महात्मा, बड़े आश्चर्य का है। मेरी बुद्धि उस मनुष्य की सी हो गई जो अपने सामने जाते हुए हाथी को न पहचाने कि यह क्या पशु है। फिर उसके खोज देखकर समझे कि हाथी था।

कश्यप—जो अपराध बिना जाने हुआ उसका सोच अपने मन से दूर करो और मैं कहता हूँ सो सुनो।

दुष्यंत—मैं एकाग्रचित्त होकर सुनता हूँ, आप कहें।

कश्यप—जब अप्सरातीर्थ में तुम्हारे परित्याग से शकुंतला व्याकुल हुई तब मेनका उसे लेकर अदिति के पास आई। मैंने उसी समय अपनी योग-शक्ति से जान लिया था कि तुमने अपनी धर्मपत्नी को दुर्वासा के शापवश होकर छोड़ा और इस शाप की अवधि मुँदरी के दर्शन ही तक है।

दुष्यंत—(आप ही आप) तो मैं अपराध से बचा।

शकुंतला—(आप ही आप) धन्य हैं मेरे भाग्य कि स्वामी ने मुझे जान-बूझकर नहीं त्यागा था। शाप से ऐसा हुआ और अब बड़ी शुभ घड़ी है कि राजा ने फिर मुझे पहचान लिया। जिस समय यह शाप हुआ मैं अपने आपे में न हूँगी, मेरी सखियों ने सुना होगा, परंतु स्नेह के मारे मुझसे न कहा,

तो भी चलते समय इतना कह दिया कि जो कहीं तेरा पति तुझे भूल जाय तो यह अँगूठी दिखा दीजो।

कश्यप—(शकुंतला की ओर देखकर) हे पुत्री, अब तैंने सब वृत्तांत जान लिया। अपने पति का अपराध मत समझ। उसने शाप के बस तेरा अनादर किया था अब वह भ्रम मिट गया और तू रानी हुई, जैसे दर्पण जब तक धुँधला रहे तब तक उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता फिर निर्मल होते ही मूर्ति ज्यों की त्यों दिखाई देती है।

दुष्यंत—महात्मा सत्य है। उस समय मेरी ऐसी ही दशा थी।

कश्यप—बेटा कहो तुमने अपने इस पुत्र का भी जिसके जातकर्म मैंने वेद-विधि से किए हैं कुछ लाड़-प्यार किया कि नहीं।

दुष्यंत—महात्मा यह तो मेरे वंश की प्रतिष्ठा है।

कश्यप—यह भी जान लो कि यह बालक अपनी वीरता से चक्रवर्ती होगा और सातों द्वीप में अखण्ड राज्य करेगा। जैसे इसने यहाँ बालपन में बन के सिंह इत्यादि दुष्ट पशुओं को दंड देकर सर्वदमन नाम पाया है वैसे ही युवापन में प्रजा का भरण पोषण करके भरत कहलावेगा।

दुष्यंत—जिस बालक के आपसे महात्मा ने संस्कार किए हैं वह निश्चय सब बड़ाइयों के योग्य होगा।

अदिति—अब शकुंतला ने फिर अच्छे दिन देखे इसलिये कण्वजी को भी यह वृत्तांत सुनाना चाहिए और इसकी माता मेनका यहीं है वह तो सब जानती ही है।

शकुंतला—(आप ही आप) इस भगवती ने तो मेरे ही मन की कही।

कश्यप—अपने तप के बल से कण्वजी सब वृत्तांत जानते होंगे परंतु यह मंगल की बात है उनको सुनानी चाहिए।

दुष्यंत—इसी से मुनि ने मुझ पर क्रोध न किया।

कश्यप—(सोचकर) समाचार हमीं कण्व को पहुँचावेंगे। कोई है।

(एक चेला आया)

चेला—महात्मा क्या आज्ञा है।

कश्यप—हे गालव, तू अभी आकाशमार्ग होकर कण्व के पास जा और मेरी ओर से यह शुभ समाचार कह दे कि दुर्वासा का शाप मिटने से आज दुष्यंत ने पुत्रवती शकुंतला को पहचानकर अंगीकार कर लिया।

चेला—जो आज्ञा। (गया)

कश्यप—अब पुत्र तुम अपने स्त्री बालक समेत इंद्र के रथ पर चढ़कर आनंद से अपनी राजधानी को सिधारो।

दुष्यंत—जो आज्ञा।

कश्यप—हम आशीर्वाद देते हैं कि इंद्र तुम्हारे राज्य में अच्छी वर्षा करे और तुम यज्ञ करके इंद्र को अनुकूल रक्खो।

इस भाँति तुम्हारा परस्पर उपकार होने से दोनों लोक के वासी युगानुयुग सुख पावेंगे।

दुष्यंत—हे महात्मा, जहाँ तक हो सकेगा मैं इस सुख के निमित्त सब उपाय करूँगा।

कश्यप—अब और क्या आशीर्वाद दें।

दुष्यंत—जो आपने कृपा की है तो इससे अधिक और आशीर्वाद क्या होगा और कदाचित् आप प्रसन्न ही हुए हो तो यह आशीर्वाद दो कि राजाओं की बुद्धि प्रजा का सुख बढ़ाने में प्रवृत्त रहे और वेदपाठी सरस्वती के पूजन में चित्त लगावें और नीलकंठ लोहितजटा स्वयंभू सदाशिव मुझे इस संसार के आवागमन से छुड़ावें।

कश्यप—तथास्तु।

(सब बाहर गए)

(समाप्तम्)